श्री लक्ष्मी नारायण भगवान, चरित्रवन, बक्सर (बिहार)

समर्पण
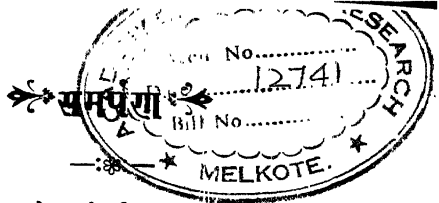
श्री १००८ श्रीमद् वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्त-
प्रवर्तकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य श्रीपति पीठ षष्ठ
सिंहासनाधिपति श्रीमत्परमहंस परिव्राजका-
चार्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय

श्रीमद् विष्वक्सेनाचार्य श्रीत्रिदण्डिस्वामिन्

परमाचार्य

आपकी ही कृपा समृद्धि से समुद्भूत श्रीभाष्य खण्ड पुष्पों की
महामाला के इस तृतीय पुष्प से २०३४ वर्षीय गुरुपूर्णिमा
के पावन पर्व पर श्रीमत्क श्रीचरणों को समलंकृत
करने का साहस इस विश्वास से कर रहा हूँ
कि श्रीमान् अपनी वस्तु को इस नव-
परिवेश के प्रेक्षण जन्य अमन्दा-
नन्द का अनुभव करेंगे।

श्रीमत्कपदपद्मपरागलिप्सु

श्रीधराचार्य

(शिवप्रसाद द्विवेदी)

श्याम सदन, कटरा, अयोध्या (उ० प्र०)

❁ विषय सूची ❁

सम्पादकीय–

श्री वैष्णवजगत् को हिन्दी श्री भाष्य प्रकाशन योजना समिति अयोध्या द्वारा हिन्दी श्री भाष्य का तृतीय भाग प्रस्तुत करते हुए अपारहर्षानुभुति हो रही है। श्रीभाष्य दार्शनिक गोष्ठी में समादृत एवं श्री वैष्णव सम्प्रदाय का मूर्धन्य ग्रन्थ है। इसकी रचना कर भगवत्पादरामानुजाचार्य ने विशिष्टा द्वैतसिद्धान्त की सुदृढ़ स्थापना की और अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के संकल्प को साकार बनाया। आज से ६६० वर्षों पूर्व पिंगल सम्वत्सर के मेषार्द्रा में दक्षिण भारत की लोकपावन भूमि भूतपुरी (पेरम्बुदूर) में अवतरित होकर आचार्य ने अपने जीवन का[illegible] में अनेकों लोकोत्तर कार्य किये जिनमें श्री भाष्य रचना भी [illegible]म है। सहस्र वर्ष पूर्ण होने पर पिंगलसंवत्सर आने का [illegible] नहीं है इसलिए विगत वैशाख शुक्ल षष्ठी को पिंगलसंवत्सर के उपलक्ष में सारे देश में बड़े ही समारोह के साथ सहस्राब्द महोत्सव मनाया गया। भगवान् रामानुजाचार्य के पिंगल सहस्राब्द की पुण्यस्मृति में उनके मुखोल्लास हेतु ही हिन्दी श्रीभाष्य प्रकाशन समिति का गठन किया गया। श्री भाष्य का अध्ययन किये विना श्री वैष्णव सिद्धान्त का सुस्थिर ज्ञान और उसमें निष्ठा सम्भव नहीं। साधारण हिन्दी जानने वाले श्री वैष्णव भी इसके द्वारा विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को हृदयंगम कर सकें तदर्थ हिन्दी श्री भाष्य का शुभारम्भ किया गया। सभी श्री वैष्णवमन्दिरों एवं पुस्तकालयों में इसकी प्रतियां रखनी चाहिये। इसका ग्राहक

वन कर योगदान कर इस अध्यात्मिक एवं साम्प्रदायिक कार्य का सम्वर्द्धन करना चाहिए। पूज्यपाद वैकुण्ठवासी अनन्त श्री विभूषित कांची प्रतिवादिभयंकर पीठाधीश्वर श्री १००८ श्री मदनन्ताचार्य स्वामी जी महाराज ने अपने जीवनकाल में श्री भाष्य का हिन्दी रूपान्तर करने का संकल्प किया था किन्तु कार्यव्यस्तता के कारण उस समय इसकी पूर्ति न हो पायी। इस कार्य से उनका भी मुखोल्लास होगा।

यह वड़े ही हर्ष का विपय है कि महाराज श्री के द्वारा संस्थापित श्री वेंकटेशदेव स्थान के वर्तमान सम्मानीय अध्यक्ष कांची प्रति-वादिभयंकर पीठाधीश्वर श्री १००८ श्री मज्जगद् गुरुकृष्णमाचार्य स्वामीजी महाराज ने तथा देवस्थान के ट्रस्टीगण श्री सोमानीवन्धु एवं श्री गनेरीवाल आदि ने देवस्थान की ओर से हिन्दी श्री भाष्य प्रकाशन हेतु कागजों के लिए दस हजार रुपयों का महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

हिन्दी श्री भाष्य प्रकाशन समिति उन सभी महानुभावों के प्रति श्रद्धातिरेक से कृतज्ञता ज्ञापन करती है। और काञ्ची प्रतिवादि भयंकर पीठाधीश्वर श्री १००८ श्री मज्जगद्गुरु कृष्ण-माचार्य स्वामी जी महाराज को वरिष्ठ संरक्षक का पद प्रदान करती है। प्रस्तुत तृतीय भाग में अद्वैत सम्मत अनुभूति का नित्यत्व भेद का मिथ्यात्व, ज्ञानमात्र का आत्मत्व, एवं ब्रह्म के निर्वि-शेषत्व आदि विषयों का तर्क प्रमाण पुरस्सर खण्डन तथा अहमर्थ के आत्मत्व, ज्ञान का ज्ञान गुणकत्व, परंब्रह्म का अखिल कल्याण

गुणाकरत्व, एवं जगत् के प्रति अभिन्न निमित्तो पादानत्व आदि जैसे विषयों का प्रसादगुण विशिष्ट सरल हिन्दी भाषा के माध्यम मे व्याख्याकार पं० श्रीधराचार्य (शिवप्रसाद द्विवेदी) ने प्रस्तुत किया है, विश्वास है, हिन्दी पाठक जनता इसे अधिक उत्साह पूर्वक अपनायेगी।

निवेदक–

ज० गु० रामानुजाचार्य यतीन्द्र स्वामी रामनारायणाचार्य

कोशलेश सदन पीठाधीश्वर, अयोध्या, उत्तर-प्रदेश

वस्तु याथात्म्य–

श्री विष्वक्सेन सूरेर्नववसुकलितामर्चनां स्वीकरिष्णुः ।
पुण्येप्रान्ते विहारे कुशिकसुतमुनेराश्रमे पूज्यमानः ।
अस्माकं सम्पदोघान विरलदययावर्द्धयन् विश्वनेता ।
लक्ष्मी नारायणाख्यो भवतु मम सदा भाग्यभूम्ने प्रसन्नः ।।

विहार प्रदेश के भोजपुर जनपद में विष्णुपादोदकी पुण्य सलिला, कलकल निनादिनी भगवती भागीरथी के पावन दक्षिण तट पर पुराणेतिहास प्रसिद्ध तपोधन महर्षि विश्वामित्र का सिद्धि स्थल सिद्धाश्रम (चरित्रवन) वक्सर आज भी अपनी अक्षुण्ण प्राकृतिक सम्पदाओं के लिए प्रख्यात है। यहां का श्री श्रीपति पीठ के नाम से प्रख्यात श्री लक्ष्मीनारायण भगवान् का मन्दिर अपने दिगन्त व्यापी यशःपताका को आज भी वड़े मर्यादित गौरव के साथ दोधूयमान कर रहाहै। शान्ति, दान्तिविरक्ति के साथ-साथ वैदुष्यवारांनिधित्व का अपने विशाल अन्तराल में सम्यक् संगोपन यहां के श्री महान्तों का प्रधान गुण रहा है। पञ्चाचार्य पथ पथिक भगवत्पाद श्री रामानुजाचार्य के अपरावतार अपने सिद्ध पुरुष पांच पूर्वाचार्यो से सुरक्षित श्री मद् विशिष्टाद्वैत राद्धान्त के संवर्द्धन में सतत जागरूक श्री १००८ श्रीमद् विष्वक्सेनाचार्य श्री त्रिदण्डी स्वामी जी महाराज इस पीठ के पष्ठ सिंहासनाधिपति एवं इस अकिञ्चन के परमाचार्य हैं। गंगा यमुना आदि पुण्य सलिला सोतस्विनियों

के तट पर उदासीन भावसे विचरण करनेवाले आपकी कुटिया आज भी सहसा प्राचीन ऋषियों की याद दिलाती हैं। विश्व वन्धुत्व की भावना से भावित आप सदा सामान्य जनजीवन को भारतीय वैदिक ज्ञान ज्योति प्रदान करते हुये उन्हें सन्मार्ग पर ही प्रवर्तित किया करते हैं। आपके चरणकमलों की सन्निधिमें बैठकर जो कुछ भी मुझे सुनने को मिला उसी का एक दूसरा रूप श्री भाष्य की हिन्दी व्याख्या के रूप में आप सभी पाठकों के हाथ में सादर समर्पित है।

प्रस्तुत हिन्दी श्रीभाष्य का तृतीय भाग जिज्ञासाधिकरण के महासिद्धान्तस्थ अनुवर्तमानत्व हेतु के खण्डन से उपक्रान्त होता है। महापूर्वपक्ष में अद्वैती विद्वानों ने कहा था—

१– सभी वेदान्त इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि अशेष विशेष प्रत्यनीक ज्ञानमात्र ब्रह्म ही सत्य है। उसके अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत होरहा है वह उसी तरह ब्रह्म में अध्यस्त होनेके कारण मिथ्या है जिस तरह रस्सीमें अध्यस्त होने वाला सर्प मिथ्या है।

२– जिस तरह चाकचिक्य, अन्धकार आदि दोषों से रस्सी आदि में सर्प आदि की प्रतीति होती है, उसी तरह अविद्या (Nescience) नामक दोष (Defect) के कारण ज्ञानमात्र सत्तामात्र ब्रह्म में सम्पूर्ण जगत् अध्यस्त हो जाता है। वह अविद्या ही अपने आवरण नामक शक्ति के द्वारा

वस्तु के स्वरूप को तिरोहित (छिपाना) कर देती है और अपनी विक्षेप शक्ति के द्वारा वहाँ पर विविध विचित्र विक्षेपों को उत्पन्न कर देती है । यह अविद्या अनादि तथा सदसदनिर्वचनीय है । उस अविद्या से ही अपने स्वरूप के तिरोहित हो जाने के कारण ब्रह्म अपने में ही भेद का दर्शन करता है । और मिथ्या होने के कारण अविद्या की निबृत्ति निर्विशेप चिन्मात्र ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान से होती है ।

३— अद्वैती विद्वानों ने प्रतीयमान भेद का खण्डन करते हुये कहा— यद्यपि प्रत्यक्ष के द्वारा भेद की प्रतीति होती है फिर भी शास्त्र इस प्रपञ्च को मिथ्या बतलाता है । और प्रत्यक्ष में पुरुष बुद्धिजन्य भ्रम, प्रमाद विप्रलिप्सा करणा पाटव आदि दोष सम्भव हैं, अतएव संभाव्यमान दोष होने के कारण प्रत्यक्ष अप्रमाण कोटि में निविष्ट होकर अन्यथा सिद्ध एवं वाध्य प्रमाण सिद्ध होता है । शास्त्र में यह दोष सम्भव नही है अतएव वह असम्भाव्यमान दोष होने से अनन्यथा सिद्ध तथा वाधक प्रमाण सिद्ध होता है । इस तरह अनादि निधनविच्छिन्न सम्प्रदाय शास्त्र के द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध भेद का बाध हो जाता है । शास्त्र में पूर्वापरापच्छेद न्याय से सगुण शास्त्र का परवर्ती निर्गुण शास्त्र के द्वारा बाध हो जाता है ।

४— 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि शोधक वाक्यों की व्याख्या करते हुये अद्वैती विद्वान् कहते हैं कि सत्य आदि पद ब्रह्म

में सत्यत्व आदि गुणों का विधान न कर, ब्रह्म को स्वेतर समस्त प्रत्यनीक रूप से प्रतिपादित करते हुये केवल उसके ज्ञानमात्र स्वरूप का ही प्रतिपादन किया करते हैं।

५- शास्त्र एवं प्रत्यक्ष प्रमाण की चर्चा करते हुये अद्वैती विद्वानो ने कहा— शास्त्र एवं प्रत्यक्ष मे विरोध होने पर शास्त्र के द्वारा प्रत्यक्ष वाधित हो जाता है किन्तु वास्तविकता है कि शास्त्र और प्रत्यक्ष में विरोध ही नहीं है। यद्यपि घट है, पट है, (घटः सन् पटः सन्) इत्यादि ज्ञानों में घटादि की आपाततः प्रतीति होती है, किन्तु वास्तविकता है कि घटादि हैं ही नहीं। उनकी तो भ्रान्ति के कारण प्रतीति होती है। क्योंकि यह नियम है कि जो सत्य होता है, उसका अभाव नहीं होता। और जिस समय घट की प्रतीत होतीहै उस समय पट नही प्रतीत होता है, क्योंकि उसका अभाव, रहताहै किन्तु 'है' 'है' (सन् सन्) इस रूपसे प्रत्येक ज्ञानोंमें सत्ता की प्रतीति अवश्य होती है। अतएव सत्तामात्र ही सत्य है, तद्व्यतिरिक्त सम्पूर्ण प्रतीयमान प्रपञ्च मिथ्या।

६- किञ्च यदि भेद नामक भी कोई पदार्थ होता तो, घट पटादि की प्रतीति काल में उनका भेद भी अवश्य प्रतीत होता तथा भेद का भी घटादि के व्यवहार के ही समान व्यवहार भी होता। चूंकि ऐसा नहीं होना है अतएव भेद का निरूपण सम्भव नहीं है।

७- घटादिके मिथ्यात्वका प्रतिपादन करते हुये अद्वैती विद्वानों

ने कहा कि देखा जाता है कि रज्जु सर्प में व्यावर्तित होने वाला सर्प मिथ्या होता है और अनुवर्तित होनेवाली रस्सी सत्य होती है। इससे इस नियम की सिद्धि होती है कि 'यद् यदनुवर्तते तत् सत्यम्, यद्यन्निवर्तते तत्तन्मिथ्यां' अतएव प्रतीतियों में व्यावर्त्यमान घटादि मिथ्या और अनुवर्तमान सत्ता सत्य है। वह सत्ता ही अनुभूति है, वही संवित आत्मा तथा परमात्मा है। वह एक नित्य, निर्विशेष एवं विकारशून्य है। वह ज्ञातृत्व कर्तृत्व इत्यादि धर्मों से रहित है। ज्ञातृत्व आदि तो अहकार की ग्रन्थि के धर्म हैं आत्मा के नही। आत्मा में इनकी प्रतीति इसलिये होती है कि आत्मा का अभिव्यंजक अहंकार है। जिसके कारण उसके धर्म आत्मा में अध्यस्त हो जाते हैं।

महासिद्धान्त में अद्वैती विद्वानों के उपर्युक्त कथन का पूर्ण रूप से खण्डन किया गया है। विशिष्टाद्वैती विद्वानो का कथन है कि अद्वैती विद्वानों के विचार इसलिए अमान्य हैं कि वह केवल कुतर्क पर आधारित है अतएव श्रुति तथा न्याय के विपरीत है। उन्हें इस वात का ज्ञान है ही नहीं कि जिस परम पुरुष का वर्णन सभी उपनिषदें करती हैं, जीव उसके प्रेम का पात्र कैसे बन सकता है? महाभारत का संजय धृतराष्ट्र के पूछने पर कहता है– राजन्? भक्ति के कारण मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया, और उस शुद्ध अन्तःकरण से शास्त्रों का अध्ययन करके, (तैलधारावदविच्छिन्न स्मृति सन्तान रूप निरंतर

निरन्तराय परमात्मा का चिन्तन करते हुए उनके) स्वरूप को जानता हूँ । 'शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम्' । परमात्मा के स्वरूप की शास्त्रीय पद्धति से जानकारी प्राप्त कर भक्तिपुरसर परमात्माके स्वरूपचिन्तन रूप ध्यानके अलावा मोक्ष का कोई दूसरा मार्ग नहीं है, यह निम्न श्रुतियाँ बतलाती हैं ।

(१) 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' अर्थात् उस पुरुष सूक्त में वर्णित ही विराट् पुरुष को शास्त्रीय पद्धति से जान कर (तथा उसका चिन्तन करके) जीव मृत्युरूपी संसार चक्र को पार कर लेता है, मुक्तिरूपी शाश्वतनिलय के लिए (परमात्मा के निरन्तर अपायरहित ध्यान को छोड़कर कोई) दूसरा मार्ग (साधन नहीं है ।

(२) 'निचाय्यतं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।' उस परमात्मा का दर्शन के समान आकार वाले विशदावभासरूप ध्यानके द्वारा जीव संसार चक्र से मुक्त हो जाता है ।

सर्वाधिक ध्यान देने की बात यह है कि- अद्वैती विद्वान् महापूर्व पक्ष में सर्वप्रथम अपने कथ्य की पुष्टि के लिए प्रमाणों को उद्धृत करते हैं, और वहीं पर जो कुछ कहना होता है उसे कह कर तदनुकूल तर्क उपस्थित करते हैं । किन्तु महा सिद्धान्त में पहले तर्कों को उपस्थित करके उसके पश्चात् प्रमाणों को उपस्थित किया गयाहै । इसका कारण यह है कि अद्वैती विद्वान् शास्त्र को प्रत्यक्षादि की अपेक्षा प्रबल प्रमाण मानतें हैं अतएब पहले वेदान्त वाक्यों को उद्धृत करके उसके अनुसार जो कुछ कहना होता है उसे कहते हैं । किन्तु सिद्धान्त में निर्दोष प्रत्यक्ष

एवं शास्त्र में समानरूप से प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है। अतएव सर्वप्रथम: निर्विशेष वस्तु का प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा ग्रहण का अभाव बतलाकर उनके अनुकूल ही वेदान्त वाक्यों के स्वारस्य की रक्षा करतेहुये उनकी व्याख्या की गयी है। उसका क्रम इस प्रकार है।

(१) अद्वैती विद्वानों के निर्विशेष ब्रह्म का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती का कहनाहै कि चूँकि सभी प्रमाणोंके विषय सविशेष होते हैं निर्विशेष नहीं, अतएव निर्विशेष वस्तु अप्रमाणिक है। क्योंकि प्रत्यक्षके दो भेदहैं–निर्विकल्पक और सविकल्पक। जब कि गोत्वादि का ज्ञान नहीं रहताहै, उस समय गोत्वादि विशिष्ट वस्तु का जो प्रथम पिण्ड ग्रहण होता है, वही कहलाता है निर्विकल्पक प्रत्यक्ष। और जब दूसरी एव तीसरी आदि गौ का ग्रहण यह समझते हुए किया जाता है कि यह भी गौ है,क्योंकि यह गोत्वावच्छिन्न है, तो इसप्रकार का सप्रत्यवमर्श (अनुगताकार का अनुभव करते हुये) जो अनुभव किया जाताहै वह सविकल्पक प्रत्यक्ष होताहै। किन्तु किसी भी प्रत्यक्ष में निर्विशेष वस्तु का ग्रहण नहीं होता है। निर्विकल्पक एवं सविकल्पक प्रत्यक्षमें केवल इतनाही अन्तर होताहै कि निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें अनुगताकार की प्रतीति नहीं होती है, और सविकल्पक प्रत्यक्ष में अनुगताकार की प्रतीति होती है। अनुमान भी प्रत्यक्ष मूलक होने के कारण निर्विशेष वस्तु का ग्रहण नहीं हो कर सकता है। अब रही शब्दप्रमाण की बात, तो उसकी भी स्थिति यह है कि किसी भी शब्द के

दो भाग होते हैं, प्रकृति भाग और प्रत्यय भाग। और दोनों भागों का अपना अलग अलग अर्थ होता है. प्रकृति भाग विशेष्यांश और प्रत्यय भाग विशेषणांश को बतलाताहै अतएव विशेषण विशिष्ट वस्तु का प्रतिपादन करने के कारण वह शब्द प्रमाण भी सविशेष ही वस्तु का प्रतिपादन करताहै। आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि एव तात्पर्य से युक्त सार्थक पद समुदाय रूपवाक्य तो अनेक विशेषण विशिष्ट ही वस्तु का प्रतिपादन कर सकते हैं निर्विशेष वस्तु का नहीं।

(२) प्रत्यक्ष भी सत्तामात्र का ही ग्राहक होता है-अद्वैती विद्वानों के इस कथन का खण्डन करते हुये सिद्धान्ती ने कहा- कि प्रत्यक्षके द्वारा संस्थानादि विशिष्ट ही वस्तु का ग्रहण होता है, किसी भी प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भाग अवश्य होते हैं।

(१) विशेष्यांश-जिसे इदन्त्वेन निर्दिष्ट किया जाता है।

(२) विशेषणांश-जिसे इत्थन्त्वेन निर्दिष्ट किया जाता है। इदन्त्व एव इत्थन्त्व इन विशेषोंसे रहित वस्तु का ग्रहण कोई भी प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है।

(३) भेद का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है-अद्वैती विद्वानों के इस कथन का खण्डन करते हुए श्रीभाष्यकार स्वामी जी महाराज कहते है कि वस्तु के जिस समय जाति आदि का ग्रहण होता है, उस समय उसका भेद भी गृहीत होता है, किन्तु भेद के व्यवहार के लिये उसके प्रतियोगी का होना आवश्यक है। किञ्च यदि वस्तुओं का आपस में भेद नहीं होता तो फिर जिसे घट की आवश्यकता है, वह पट ही ले-

कर क्यों नहीं संतुष्ट हो जाताहै,यही समझकर न कि हमारे प्रयोजन की वस्तु इससे भिन्न है। किञ्च यदि सभी ज्ञानों का विषय एक ही है तो किसी एक शब्द के ही उच्चारण से सभी अर्थों का ज्ञान क्यों नहीं हो जाता है? अतएव सभी प्रत्यक्ष अनुमान, शब्द आदि प्रमाण सविशेष ही वस्तु का ग्रहण करते हैं निर्विशेष का नहीं। श्रीभाष्यकार स्वामी ने कहा- वस्तु का जो आकार उसको स्वेतर समस्त वस्तुओं से भिन्न सिद्ध करता है, वही उसकी जाति है और स्वेतर से भेदहै। अतएव जाति को संस्थान स्वरूप ही मानना चाहिये।

(४) व्यावृत्ति मिथ्यात्व अथवा बाध्यत्व का,तथा अनुवृत्ति सत्यत्व अथवा बाधकत्व का, प्रयोजक है अद्वैतियों के इस कथन का खण्डन करते हुये आपने कहा कि व्यावृत्ति सामान्य अथवा अनुवृत्ति सामान्य बाध्यत्व अथवा बाधकत्व के प्रयोजक नहीं हो सकते हैं, व्यावृत्ति विशेष बाध्यत्व का प्रयोजक तथा अनुवृत्ति विशेष बाधकत्व के प्रयोजक हैं। जिस देश एवं काल में जिस आकार विशिष्ट वस्तु की प्रतीति हो उसी देश काल में उस आकार से विशिष्ट वस्तु का यदि अभाव ज्ञात हो तो इस प्रकार की व्यावृत्ति, विशेष व्यावृत्ति होती है, और ऐसी व्यावृत्ति उस वस्तुके बाध्यत्व की प्रयोजिका बन जाती है। रज्जुसर्प आदि स्थल में ऐसी ही व्यावृत्ति सर्प के बाध्यत्व की प्रयोजिका होती है। घटोऽस्ति-पटोऽस्ति आदि प्रतीतियों में जो व्यावृत्ति है वह देश एव काल की भिन्नतासे युक्त होने के कारण बाध्यत्व की प्रयोजिका नहीं बन सकती है।

४) अनुभूति किसी का विषय नहीं बनती है, क्योंकि जो किसी का विषय बनता है, वह घटादि के समान जड़ होता है— अद्वैती विद्वानों के इस कथन का खण्डन करते हुये आपने कहा- यदि अनुभूति किसी का विषय नहीं बनती तो फिर हम अपने अतीतकालिक अनुभव का स्मरण कैसे करते है। जब हम अपने अतीतकालिक अनुभवों अनुभूतियों को अपने वर्तमानकालिक अनुभव का विषय बनाते हैं तो उसी को स्मरण कहते है। किञ्च जब अद्वैती विद्वान् बौद्ध आदि विचारकों के मत का खण्डन करतेहैं, उस समय बौद्ध आदि के ज्ञानों को वे अपने ज्ञान का विषय बनाते हैं या नहीं ? यदि बनातेहैं तो फिरज्ञान ज्ञान का विषय बनताहै यह सिद्ध ही हो गया, यदि नहीं बनाते हैं तो फिर उनकी वादाहव में प्रवृत्ति उन्मत्त प्रलापवत् व्यर्थ है। अतएव यही मानना चाहिये कि अनुभूति ज्ञान का विषय बनती है। अनुभूति का असाधारण स्वभाव यह है कि वह अपनी सत्ता कालमें अपने आश्रय के प्रति, अपनी सत्ता से ही प्रकाशित होती रहती है तथा अपने विषयों का भी प्रकाशन कर देतीहै। अपनी सत्ता से ही अपने आश्रय के प्रति प्रकाशित होते रहना ही उसका स्वयंप्रकाशत्व कहलाता है। किन्तु अनुभूति को नित्य नहीं माना जा सकता है, मुझको ज्ञान उत्पन्न हुआ, मेरा ज्ञान नष्ट हो गया, इत्यादि प्रकार के जो अनुभव हैं, वे यह सिद्ध कर देते हैं कि ज्ञान उत्पन्न और नष्ट होने के कारण अनित्य होते हैं। आपने यह भी बतलाया कि कोई भी ज्ञान आश्रय

(Substrate) और विषय [Object] से रहित नहीं होता है। क्योंकि ऐसे ज्ञान का आभाव योग्यानुपलब्धि [Valid Noneexistance] के द्वारा ही सिद्ध हो जाताहै।

(६) कर्तृत्वादि आदि आत्मा के धर्म नहीं हैं, वे अहकार ग्रन्थि [Knote of Ejoity] के धर्म हैं—उनकी आत्मा में इसलिए प्रतीति होती है कि अहंकार आत्मा का स्वयं आश्रय बनकर प्रकाश किया करता है- उसका खण्डन करते हुये आपने कहा कि जड अहंकार के द्वारा स्वयप्रकाश आत्माके प्रकाशन की बात उसी प्रकार उपहास्यास्पद है जिस तरह कोई यह कहे कि सूर्यको कोयला प्रकाशित करता है। 'एष-घ्राता रसयिता' आदि वाक्य यह बतलाते हैं कि कर्तृत्व आदि धर्म आत्मा के ही हैं। दूसरी बात यह है कि प्रकाशक कभी अपने प्रकाश्य का प्रकाशन अपने भीतर करे यह कभी संभव नहींहै। प्रकाशक दीपक अपने भीतर ही प्रकाश्य घटादि का प्रकाशन नहीं करता है।

(७) 'ज्ञान मात्र ही आत्मा है' इसका खण्डन करते हुये आपने कहा- 'अहंजानामि' आदि अनुभवों में 'मैं' 'मैं' इस शब्द से कहा जाने वाला अहमर्थ ही आत्मा है, ज्ञान तो उसका धर्म है। किञ्च स्वापादिकाल में ज्ञान का अभाव रहता है,किन्तु अहमर्थ का अभाव नहीं रहता है। 'नाहमकिञ्चिदज्ञासिषम्' इत्यादि प्रकार के सोकर जगने वाले के प्रत्यवमर्श स्वापकालिक सभी प्रकार के ज्ञानों का अभाव बतलाते हैं। किञ्च—श्री वामदेव आदि मुक्त महर्षियोंने आत्मा का 'मैं' 'मैं' इस

रूप से ही अनुसंधान किया यह–"तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे– 'अहं मनुरभवं, सूर्यश्च' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ज्ञात होता है। स्वयं परंब्रह्म ही 'मैं' 'मैं' इस रूप मे आत्मा का अनुसंधान किया करते हैं– 'हन्ताऽहमिमाः' 'एकोऽहम्' 'बहुस्याम' 'प्रजायेय' इत्यादि श्रुतियां इस अर्थ का प्रतिपादन करती हैं। किञ्च लोक में यह ही सोचकर सभी लोग मोक्षोपयोगी अनुष्ठानों को अपनाते हैं कि मुक्त होकर मैं सभी दुखों से रहित हो जाऊँगा। यदि वह यह जान ले कि मुक्तावस्था में मैं तो नष्ट हो जाऊँगा ज्ञानमात्र ही अवशिष्ट रह जायेगा तो संभव है कि वह मुक्ति की चर्चा ही सुनकर घबड़ा जाय। अतएव ज्ञानवान् ही आत्मा को मानना चाहिये ज्ञानमात्र नहीं। इसीलिए आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हुये महर्षि वादरायण ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय में कहते हैं "ज्ञोऽत एव" ज्ञ पद्र जानाति इस अर्थ में 'इगुपधज्ञाप्रिकिरः कः' इस सूत्रसे क प्रत्यय होकर वना है, जिसका अर्थ ज्ञानवान् है।

(८) भेद वासनामूलक होने के कारण संभाव्यमान दोष होने से प्रत्यक्ष, शास्त्र के द्वारा बाधित (Sublated) हो जाता है– अद्वैती विद्वानों के इस कथन का खण्डन करते हुए श्री-रामानुजाचार्य कहते हैं कि जिस तरह भेद वासना मूलक होने के कारण प्रत्यक्ष दूषितहै उसी तरह शास्त्र भी तो भेद वासना मूलक है अतएव दूषित हैं। अतएव शास्त्र के द्वारा प्रत्यक्ष कैसे बाधित हो सकताहै? यदि कहें कि 'यद्यपि शास्त्र

भी भेद वासना मूलक हैं फिर भी शास्त्रमें सद्बुद्धि तब तक वनी रहतीहै जब तक कि ब्रह्मावगति न हो जाय ? ब्रह्माव-गति के पश्चात् शास्त्र बाधित होता है। प्रत्यक्ष के विषयमें तो ऐसी बात नहीं है-तो इसका उत्तर देते हुये आपने कहा कि शास्त्र के दोष मूलक होनेपर उसके अबाधितत्व से कोई लाभ नहीं। वह व्यक्ति जो यह नहीं जानता है कि चाँद दो नहीं होता है, वह यदि किसी कारणवश दो चांद का दर्शन करता है, तो क्या अबाधितत्व के कारण उसके द्विचन्द्र ज्ञान और उसका विषय प्रमाणिक होगा? यदि नहीं तो फिर दोषमूलक शास्त्रजन्य ज्ञान और उसका विषय ब्रह्म अबाधि-तत्व के कारण कैसे प्रमाणिक हो सकता है ? दोष ही अय थार्थ ज्ञान का कारण होता है अतएव शास्त्रजन्य अविद्या मूलक ब्रह्म ज्ञान का यद्यपि कोई बाधक ज्ञान नहीं है फिर भी वह अपने विषय के साथ मिथ्या ही माना जायेगा।

(६) जिस तरह स्वप्न की बेला में प्रतीत होने वाले हस्ती आदि का मिथ्या ज्ञान पारमार्थिक शुभाशुभावाप्ति के कारण होते हैं उसी तरह अविद्यामूलक असत्य शास्त्र के द्वारा परमार्थ ब्रह्म का ज्ञान होता है। अद्वैती विद्वानों के इस कथन का खण्डन करते हुये सिद्धान्ती का कहना है कि 'स्वप्नकाल में प्रतीत होने वाले' विषयों को मिथ्या भले ही मान लिया जाय १-क्योंकि उनका बाध होताहै किन्तु ज्ञान का तो बाध होता नहीं, अतएव ज्ञान को कैसे मिथ्या माना जा सकता है

कहने का आशय है कि यद्यपि स्वापकालमें हस्ती आदि नहीं होतेहैं, फिर भी उनकी प्रतिभासमानता को ही अपना आधार बनाकर ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह सत्य होता है। अतएव असत्य के द्वारा सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतएव रेखाओं में जो वर्ण ज्ञान होता है, वह भी असत्य से सत्य ज्ञान का उदाहरण नहीं हो सकता है। चित्र लिखित गवय को देखकर सत्य गवय का भी ज्ञान असत्यसे सत्य ज्ञान के उदाहरण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि रेखायें और चित्र दोनों सत्य हैं। इसीलिए विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की मान्यता है कि "यथार्थ सर्वविज्ञानमितिवेदविदां मतम्"।

श्रीविशिष्टाद्वैत दर्शनके इन विचारों से पश्चिम के अनेक दार्शिनिक प्रभावित हैं। विक्रम के १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का दार्शिनिक विद्वान् देकार्त,ईश्वर,जीव और प्रकृति इनतीनों तत्त्वों को स्वीकार करता है। वह कहता है कि– ईश्वर स्वतन्त्र वस्तु है, आत्मा और संसार गुणाश्रय हैं, उनकी स्थिति स्वतन्त्र नहीं ईश्वर के अधीन है।'

देकार्त ईश्वर को सृष्टिकर्ता, पालक,संहर्ता, स्वतन्त्र और सर्वज्ञ मानताहै। उसकी दृष्टिसे ईश्वर पूर्ण,निरपेक्ष और अनन्त हैं। लिबनिज और कम्पोला के भी विचार देकार्त से मिलते है। जार्ज थिबोट श्रीभाष्य के अनुवाद की भूमिका में लिखते हैं कि– श्री रामानुज की ब्रह्मसूत्र की व्याख्या एक ओर तो पूर्ण आस्तिक वेदान्त की स्थापना करती है और दूसरी ओर यह वादरायण के सूत्र के सत्य अर्थ का प्रकाशन करती है।

'I have Dwelt at Some Lenjth on the Interest Whieh Ramanga's Commentary May claim-as being, on the one hand the Fullest Exposition of What may be Called the Theistic Vedant, and as Supplyind us, on the other, With means of Penetraiting to the true Meaning of Vadrayana's Aphorisms.'

प्रस्तुत हिन्दी श्रीभाष्य को पावन गुरु पूर्णिमा के पर्व पर अपने पाठकों के हाथों में प्रस्तुत करते हुये मुझे अपार हर्ष हो रहा है। श्री रामानुज सहस्राब्दि पूर्ति महोत्सव के महान् पर्वपर हिन्दी श्रीभाष्य के प्रकाशन का कार्य आचार्य के मुखोल्लासार्थ प्रारम्भ किया गया है।

हमारे परमाचार्य श्रीमद् विष्वक्सेनाचार्य त्रिदण्डी स्वामी जी महाराज के अमोघ आशीर्वाद के फलरूप से उद्भूत यह हिन्दी श्रीभाष्य अभी केवल चार मास का शिशु है, फिर भी इसने उद्दाम उत्साह से पूर्व समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्र पर्यन्त तथा हिमालय से लेकर कन्या कुमारी अन्तरीप तक की यात्रा करके अपने मनोज्ञ दर्शन से श्री वष्णव समाज को आप्यायित कियाहै जिसके फलस्वरूप करीब एक सौ जनताने इसकी ग्राहकता स्वीकार कर ली है। प्रस्तुत हिन्दी श्रीभाष्य के प्रचार-प्रसार में जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र स्वामी रामानारायणाचार्य, कोशलेशसदन पीठाधीश्वर, अयोध्या ने अपना उल्लेखनीय सहयोग प्रदानकिया है। यहां के श्रीस्वामी वीरराघवाचार्यशास्त्री पुरानी यज्ञवेदी, पूर्व फाटक उत्तर स्थान, अयोध्या ने भी इसके प्रचार कार्य में सहायता देने का वचन दिया है।

(श्रीधराचार्य)

श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्त प्रवर्तकाचार्य श्रीमत्परमहंस
परिव्राजकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य जगद्गुरु भगवदनन्त पादीय

श्रीमते रामानुजाय नमः ।

श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः ॥

* हिन्दी श्रीभाष्य *

[तृतीय भाग]

अनुवर्तमानत्व हेतु का खण्डन

—:*:—

मू०— यत्पुनर्घटादीनां विशेषाणां व्यावर्तमानत्वेनापारमार्थ्यमुक्तम्, तदनालोचितबाध्यबाधकभाव-व्यावृत्त्यनुवृत्ति विशेषस्य भ्रान्तिपरिकल्पितम्। द्वयोर्ज्ञानयोर्विरोधे हि बाध्यबाधकभावः। बाधि-तस्यैव व्यावृत्तिः। अत्र घटपटादिषु देशकाल-भेदेन विरोध एव नास्ति। यस्मिन् देशे यस्मिन् काले यस्य सद्भावः प्रतिपन्नः, तस्मिन् देशे तस्मिन् काले तस्याभावः प्रतिपन्नश्चेत् तत्र विरोधाद्-बलवतो बाधकत्वं बाधितस्य च निवृत्तिः। देशा-न्तरकालान्तरसम्बन्धितयानुभूतस्यान्यदेशकाल-योरभाव प्रतीतौ न विरोध इति कथमत्र बाध्य बाधकभावः ? अन्यत्र निवृत्तस्यान्यत्र निवृत्तिर्वा

कथमुच्यते? रज्जुसर्पादिषु तु तद् देशकाल सम्बन्धि-तयैवाभावप्रतीतेर्विरोधो बाधकत्वं व्यावृत्तिश्चेति देशकालान्तरव्यावर्तमानत्वं मिथ्यत्वव्याप्तं न दृष्टमिति न व्यावर्तमानत्वमात्रमपारमार्थ्ये हेतुः ।

अनुवाद—

योन्तः प्रविश्य हृदये मम योगभूम्ना ।
धाम्ना च स्वेन सततं सकलार्थसार्थम् ।।
संदर्शयत्यपि हि मां कृपया स नित्यम् ।
श्री विष्वगार्य यतिराड् जयताज्जगत्याम् ।।

(अद्वैती विद्वानों ने महापूर्व पक्ष में कहा था कि घट पट आदि प्रतीयमान प्रपञ्च इसलिये भी मिथ्या (Unreal) हैं कि वे प्रत्येक भिन्न प्रतीतियों (Knowledge) में समाप्त होते जाते हैं। जिस समय घट प्रतीत होता है उस समय पट की प्रतीति नहीं होती है, और जिस समय पट की प्रतीति होती है उस समय घट नहीं प्रतीत होता है। इस तरह प्रत्येक प्रतीतियों में व्यार्वतित (None-pursistedse) होते रहने के कारण भी ज्ञान के विशेप भूत घट आदि मिथ्या हैं। सिद्धान्ती अद्वैती विद्वानों के उपर्युक्त कथन का खण्डन करते हुये कहते हैं कि—अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि ज्ञान के विशेषभूत घट आदि व्यावर्तित होते रहने के कारण अपरमार्थ (मिथ्या) हैं, उनका यह कथन भ्रान्ति परिकल्पित है क्योंकि वे बाध्य बाधक भाव (Relation between what Sublates and whatis

Sublatecd) के प्रयोजक अनुवृत्ति विशेष एवं व्यावृत्ति विशेष की सही पर्यालोचन न कर सकने के कारण ऐसा कहते हैं। क्यों कि जहां पर दो ज्ञानों में विरोध (Contradiction) होता है, वहीं पर वाध्य वाधक भाव होता है। वाधित ज्ञान की व्यावृत्ति होती है (इन घट पट आदि में तो देश अथवा काल सम्वन्धी किसी प्रकार का विरोध ही नहीं है। क्योंकि जिस देश जिस काल में जिस वस्तु की प्रतीति हुई है, उसी देश, उसी काल में यदि उसका अभाव (None existance) प्रतीत हुआ तो विरोध के कारण जो वलवान् ज्ञान होता है वह वाधक होता है और जो ज्ञान वाधित होता है, उसकी निवृत्ति होती है। दूसरे देश एवं काल में अनुभूत वस्तु का देशान्तर और कालान्तर में आभाव प्रतीत होने पर, उन दोनों ज्ञानों मे विरोध नहीं होता है। (अतएव विरोध के अभाव में) इन (घट पट आदि के ज्ञान में) कैसे वाध्य बाधक भाव माना जा सकता है ?

अथवा अन्यत्र (विरोध एवं वाध युक्त स्थलमें) जिसकी निवृत्ति हो चुकी है, उस (ज्ञान) की अन्यत्र (विरोध एव वाध युक्त स्थलमें) कैसे निवृत्ति कही जा सकती है? (यदि यहाँ पर अद्वैती विद्वान् यह कहें कि) रज्जु में प्रतीयमान सर्प की जिस तरह कालान्तर में निवृत्ति हो जातीहै, उसीतरह घट पट आदि जो ज्ञानके विशेषणी भूतहैं उनकी व्यावृत्ति स्वीकार कर लेनी चाहिये। तो उनका यह कहना ठीक नहीं क्योंकि रज्जु में सर्प की प्रतीति जिस देश और जिस काल में होती है उसी देश और उसी काल में उसका

अभाव प्रतीत होने के कारण (दोनों प्रतीतियों में) विरोध (उपस्थित) होता है (और प्रवल होने के कारण रस्सी का ज्ञान) वाधक (Sublater) तथा (पूर्व प्रतीत निवर्तित सर्प का ज्ञान) वाध्य (Sublated) होता है। (किन्तु घट पट आदि के ज्ञान स्थल में तो ऐसी वात है नहीं, जिस देश जिस काल में घट पट आदि की प्रतीति होती है उसी देश उसी काल में उनका अभाव नहीं प्रतीत होता है, अपितु देशान्तर एवं कालान्तर में होता है अतएव दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में महान् भेद है) और देशान्तर तथा कालान्तर की व्यावर्तमानता मिथ्यात्व का प्रयोजक हो ऐसा कहीं भी नहीं देखा गया है। अत एव केवल (सामान्य) व्यावर्तमानता मिथ्यात्व का कारण नहीं बन सकतो है।

टिप्पणी —

तदनारोचित० इत्यादि— वाक्य का आशय यह है कि वाध्य वाधक भाव सदा विरोध मूलक होता है। अर्थात जिन दो ज्ञानों में विरोध उपस्थित होता है, वहीं पर वाध्य-वाधक भाव होता है। यद्यपि यह वाध्य वाधक भाव ज्ञान की व्यावृत्ति एवं अनुवृत्ति के कारण होता है, किन्तु अनुवृत्ति सामान्य एवं व्यावृत्ति सामान्य के कारण नहीं होती है। क्योंकि ज्ञान की व्यावृत्ति एवं अनुवृत्ति दोप्रकार की होती है,विशेष एवं सामान्य। सामान्य व्यावृत्ति वहाँ होती जहाँ देशान्तर कालान्तर में अनुभूत वस्तुको देशान्तर एवं कालान्तर में व्यावृत्ति हो। ऐसो व्यावृत्ति वाध्यत्व की प्रयोजिका नहीं होतीहै। जहाँपर किसी देश एवं काल विशेष में अनुभूत वस्त का उसी देश और कालमें उस वस्तु का

अभाव प्रतीत हो वहाँपर उस वस्तु की व्यावृत्ति, विशेष व्यावृत्ति होतीहै, और यही व्यावृत्ति उस वस्तु ज्ञानके वाध्यत्व की प्रयोजिका होती है। अद्वैती विद्वान् भ्रान्ति के कारण व्यावृत्ति सामान्य को तथा अनुवृत्ति सामान्य को वाध्य वाधक भाव का प्रयोजक मानते हैं, यह उनकी भूल है।

"अनुभूतिमात्र सत्य है, यह कथन ठीक नहीं"

मूल०— यत्तु–अनुवर्तमानत्वात् सत् परमार्थ, इति तत्सिद्धमेवेति न साधनमर्हति, अतो न सन्मात्र–मेव वस्तु। अनुभूति सद् विशेषयोश्च विषय–विषयिभावेन भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादबाधितत्वाच्च अनुभुतिरेव सतीत्येतदपि निरस्तम्।

अनु०— (अद्वैती विद्वानों ने सन्मात्र (Pure Intelligence) की सत्यता सिद्ध करते हुये महा पूर्व पक्ष में कहा था कि जो जो–अनुवर्तित होता है, वह–वह परमार्थ होता है, सन्मात्र 'घट : सन्', 'पट : सन्' इत्यादि सभी अनुभूतियों में अनुवर्तित होता है, अतएव वही परमार्थ (Real) है, और घट पट आदि व्यावर्तित होते रहने के कारण मिथ्या भूत हैं। प्रस्तुत अनुच्छेद में उक्त सन्मात्र की परमार्थता (Reality) का खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कहते हैं कि जो–अनुवर्तमान होने के कारण सत् परमार्थ है— यह जो अद्वैती विद्वानों ने कहा है वह तो सिद्ध ही है, उसकी सिद्धि के लिये साधन की कोई आवश्यकता नहीं

है। (अतएव अद्वैती विद्वानों द्वारा सन्मात्र की परमार्थ सिद्धि के प्रयास में हेतु वाक्य का उपस्थापन सिद्धसाधनता दोष से युक्त है।) अतएव यह भी नहीं कहा जा सकता है कि सन्मात्र ही वस्तु है, (अद्वैती विद्वानों के इस कथन का भी) खण्डन हो गया कि अनुभूति ही सत् है, क्योंकि अनुभूति एवं सत् शब्द वाच्यमें विषय विषयी भाव है। (सत् शब्द वाच्य विषय है और अनुभूति विषयी) भेद (रूप से प्रतीत होने वाले प्रपञ्च) की सिद्धि (निर्दोष) प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है। तथा (प्रतीत होने वाले प्रपञ्च के) भेद (प्रमाणान्तर से) बाधित नहीं होते हैं।

टिप्पणी—

तत्सिद्धमेवेति— इस वाक्य में सिद्धान्ती अद्वैती के अनुमान में सिद्ध साधनता दोष बतलाते हैं। पर प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होताहै कि अद्वैती विद्वानोंका अभिप्राय सन्मात्रको उक्त अनुमानसे परमार्थ सिद्ध करना है। उसमें सिद्धसाधनता कैसे आ सकती है? तो इसका उत्तर यह है कि— 'अद्वैती विद्वान् उक्त अनुमान से सत् को परमार्थ सिद्ध करना चाहते हैं अथवा तद् व्यतिरिक्त को अपरमार्थ, अथवा दोनों? यदि सत् को परमार्थ सिद्ध करना चाहते हैं तो फिर सिद्ध साधनता होगी ही। यदि यह कहें कि सद्व्यतिरिक्त को अपरमार्थ सिद्ध करना चाहतेहैं तो, फिर व्यधिकरणासिद्धता होगी। कहने का आशय यह है कि उक्त अनुमान का स्वरूप यही होगा कि अनुभूति व्यतिरिक्त दृश्यमान प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि अनुभूति अनुवर्तित होती रहती है। ऐसी

स्थिति में पक्षावृत्ति रूप दोष होगा। भासित को परमार्थ तथा तद्व्यतिरिक्त को अपरमार्थ सिद्धिरूप तृतीय पक्ष स्वीकार करें तो फिर उसमें उपर्युक्त सिद्ध साधनता तथा व्यधिकरणासिद्धता ये दोनों दोष होंगे। अनुभूति सद्विशेषयोश्च— इत्यादि वाक्य के द्वारा अनुभूति एव सत् की एकता का खण्डन किया गया है। यहाँ पर यह बतलाया गया है कि अनुभूति एवं सत् दोनों एक नहीं हो सकते हैं क्योंकि— जो सत् शब्द वाच्य है, वह अनुभूति का विषय बनता है। अतएव अनुभूति विषयी है और सत् शब्द वाच्य उसका विषय। दूसरी बात यह है कि जिन घट आदि को आप मिथ्या बतलाते हैं, उनकी तो निर्दोष प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा सिद्धि होती है। यदि आप कहें कि रज्जु सर्प आदि भी तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होते हैं फिर भी उन्हें मिथ्या माना जाता है, तो इसका उत्तर है कि रज्जु सर्प में होने वाला प्रत्यक्ष अन्धकार आदि दोषों से दूषित है, निर्दोष नहीं। अतएव भेद को मिथ्या नहीं माना जा सकता है। किञ्च भेद की सिद्धि में कोई बाधक प्रमाण भी नहीं है, अतएव भेद को सत्य मानना चाहिये। इस वाक्य के सद्विशेष के विशेष शब्द के द्वारा हेतु में आश्रयासिद्धि नामक हेत्वाभास की सूचना दी गयी है। क्योंकि जो सत् विशेष होगा वह अनुभूति व्यतिरिक्त ही होगा। चूँकि सत् शब्द का प्रयोग प्रमाण सम्बन्ध के योग्य वस्तुओं के लिये ही प्रयुक्त होता है। किञ्च जो प्रमाण सम्बन्धार्ह वस्तुएँ होती हैं वे आपसमें एक दूसरे से भिन्न होतीहैं। जैसे घट : सन्, पटः सन् इत्यादि में घट, पट आदि एक दूसरे से व्यावृत्त हैं।

॥ अनुभूति के स्वयं प्रकाशत्व का स्वरूपशिक्षण ॥

मू०—यत्त्वनुभूतेः स्वयं प्रकाशत्वमुक्तम्, तद्विषयप्रकाशन-बेलायां ज्ञातुरात्मनस्तथैव, नतु सर्वेषां सर्वदा तथैवेति नियमोऽस्ति, परानुभवस्य हानोपादानादि-लिङ्गकानुमानज्ञानविषयत्वात्, स्वानुभवस्याप्य-तीतस्य अज्ञासिषमिति ज्ञानविषयत्व दर्शनाच्च, अतोऽनुभूतिश्चेत् स्वतः सिद्धेति वक्तुं न शक्यते।

अनुवाद— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि अनुभूति स्वयं प्रकाश (Self-luminous) है तो वह विषयों के प्रका-शन कालमें अपने आश्रय (Abodc) ज्ञाता (Knower) के प्रति तो स्वयंप्रकाश ही है, किन्तु (वह अपने आश्रयभूत ज्ञाता से भिन्न) सबों के प्रति तथा सभी काल में स्वयं प्रकाश हो, ऐसी बात नहीं है। (क्योंकि देखा जाता है कि ' दूसरे द्वारा किये गये अनुभव का हान एवं उपादान (Friedly and-Unfriedly) (त्याग एवं संग्रह) रूपी हेतुओं के द्वारा किये गये अनुमान के ज्ञान का विषय बनता है। किञ्च—अपना भी अतीत कालिक अनुभव 'मैंने ऐसा अनुभव किया, इस तरह के ज्ञान का विषय बनता है। अतएव यदि वह (आत्मा) अनुभूति है तो फिर उसे स्वतः सिद्ध (Self-Proved) नहीं कहा जा सकता है।

टिप्पणि—

यत्त्वनुभूतेरित्यादि— वाक्य का आशय यह है कि अद्वैती विद्वान् मानते हैं कि अनुभूति स्वयंप्रकाश है, अतएव उसे सिद्ध करने के लिये प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं है। घट पटादि को प्रकाशकान्तर दीप आदि की आवश्यकता इसलिये होती है कि वे जड़ हैं, किन्तु अनुभूति तो स्वतः सिद्ध है। इसके विषय में अद्वैती विद्वानों का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि अनुभूति स्वयंप्रकाश (Self Luminous) इसलिये है कि वह अपने विषयों के प्रकाशन काल में प्रकाशकान्तर निरपेक्ष होकर अपने आश्रय ज्ञाताके प्रति विषयों का प्रकाशन कर दिया करती है। इसीलिये उसको स्वयंप्रकाश माना जाता है। किन्तु किसी आश्रय विषय (Abode and Object) के प्रति किसी काल विशेष में ही विषयों का प्रकाशन किया करती है। सवों के प्रति विषयों का वह प्रकाशन नही करती तथा सर्वदा वह विषयों का प्रकाशन नहीं किया करतीहै। क्योंकि यदि अनुभूति आश्रय विशेष निरपेक्ष होकर प्रकाशित होती ता फिर हम दूसरे केद्वारा किये गये अनुभवों को भी जान लिया करते किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। हमें दूसरे के अनुभवों को जानने के लिये अनुमान (Inference) आदि का सहारा लेना पडता है। जव हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति अपने प्रयोजन की वस्तुओं को अपना लेता है और अपने प्रयोजन के प्रतिकूल वस्तुओ का त्याग कर देता है तो फ़िर उस व्यक्ति के स्वप्रयोजनानुकूल एव प्रतिकूल वस्तु सम्वन्धी ज्ञान का हम अनूमान करते हैं। इसी तरह अनु–

भूति यदि सदा प्रकाशित होती रहती तो हम अपने द्वारा किये गये अतीत कालिक अनुभवों का स्मरण करते हुए कैसे कहते कि मैंने अमुक वस्तु को अमुक काल में जाना ?

अनुभूतिश्चेत्— इत्यादि वाक्य का अभिप्राय यह है कि अद्वैती विद्वान् यह जो कहते हैं कि अनुभूति आश्रय, विषय, एवं काल निरपेक्ष होकर सदा प्रकाशित हुआ करती है,तो उनका यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि अनुभूति तो सदा आश्रय विशेष, विषय विशेष, एवं काल विशेष सापेक्ष हुआ करती है।

❀ अनुभूति अनुभव का विषय बनती है ❀

मूल—अनुभूतेरनुभाव्यत्वे अननुभूतित्वमित्यपि दुरुक्तम्, स्वगतातीतानुभवानां परगतानुभवानाञ्चानु-भाव्यत्वेनाननुभूतित्वप्रसङ्गात्, परानुभवानु-मानानभ्युपगमे च शब्दार्थसंबन्धग्रहणाभावेन समस्तशब्द व्यवहारोच्छेद प्रसङ्गः। आचार्यस्य-ज्ञानवत्त्वमनुमाय तदुपसत्तिश्च क्रियते, सा च नोप-पद्यते। न चान्य विषयत्वेऽननुभूतित्वम्, अनुभूति-त्वं नाम वर्तमानदशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति प्रकाशमानत्वं, स्वसत्तयैव स्वविषयसाधनत्वं वा। ते चानुभवान्तरानुभाव्यत्वेऽपि स्वानुभवसिद्धेना-वगच्छत इति नानुभूतित्वमपगच्छति। घटादेस्त्व-ननुभूतित्वमेतत् स्वभाव विरहात्। नानुभाव्य—

त्वात् । तथा अनुभूतेरननुभाव्यत्वेऽपि अननुभूतित्व प्रसङ्गोदुर्वारः, गगनकुसुमादेरननुभाव्यस्याननु-भूतित्वात् ।

अनुवाद— (अद्वैती विद्वान् कहते हैं कि अनुभूति किसी का विषय नहीं बनती है) यदि अनुभूति अनुभव का विषय बन गयी तो फिर अनुभूति से भिन्न सिद्ध होगी । यह जो अद्वैती विद्वानों का कहना है वह भी दुरुक्ति (अनुचित) ही है । क्योंकि देखा जाता है कि अपना भी अतीतकालिक अनुभव तथा दूसरों का अनुभव–अनुभव के विषय बनते हैं, (फलतः इनका) अनुभूति से भिन्नत्व का प्रसङ्ग होगा । यदि दूसरे के द्वारा किये गये अनुभवों को अपने अनुमान ज्ञान (Inferential-Knowledge) का विषय नहीं माना जाय तो फिर शब्द और अर्थके सम्बन्ध (Connexion of Words and Meaning) का ग्रहण न हो सकने के कारण सभी शब्दों के व्यवहार का ही उच्छेद हो जायेगा । आचार्य की ज्ञानवत्ता का ही अनुमान करके उनके सन्निकटमें शिष्य-ज्ञानाधिगम हेतु जाता है (परानुभवको अपने ज्ञान का विषय नहीं मानने पर शिष्य आचार्य के सन्निकट में ज्ञानाधिगम हेतु) जायेगा ही नहीं । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अनुभूति को दूसरी अनुभूति का विषय मानने पर वह अननुभूति होगी । वर्तमान दशा में अपनी सत्ता मे ही अपने आश्रय (Substrate) के प्रति प्रकाशित होते रहने को अथवा अपनी सत्तामात्र से अपने विषय को प्रकाशित करने

को अनुभूतित्व कहते हैं। और ये दोनों (प्रकार के वर्तमानकाल में अपने आश्रय के प्रति प्रकाशित होते रहना तथा अपनी सत्ता-मात्र से विषयों को प्रकाशित करना अनुभूतित्व) दूसरे के अनु-भव का विषय होने पर भी अपने अनुभव में बने ही रहते हैं, उस (अनुभूति) से, दूर नहीं होते, अतएव (अनुभूति के अनु-भवान्तर का विषय बननेपर भी उससे) अनुभूतित्व नहीं समाप्त होता (यदि इस पर अद्वैती विद्वान् यह कहें कि, यदि अनुभव के विषय को भी अनुभूति मान लिया जाय तो फिर उसका घट आदि से क्या अन्तर होगा ? घटादि को भी अनुभूति क्यों नहीं मान लिया जाता है ? तो इसका उत्तर यह है कि, घटादि को तो अनुभूति से भिन्न इसलिये माना जाता है कि उसमें अनुभूति के स्वभाव भूत (धर्म वर्तमानकाल में अपनी सत्ता से ही अपने आश्रय के प्रति प्रकाशित होते रहना तथा अपनी सत्ता मात्र से अपने विषयोंको प्रकाशित करते रहना) नहीं होते हैं, अनुभाव्य होने के कारण उसे अनुभूति नहीं माना जाता है।

किञ्च— अनुभूति को अनुभव का विषय नहीं माननेपर भी उसके अननुभूतित्व का प्रसङ्ग दुर्वार होगा। क्योंकि आकाश पुष्प आदि (शशशृङ्ग आदि) अनुभूति के विषय नहीं बनते हैं फिर भी वे अनुभूति से भिन्न होते हैं।

टिप्पणि—

स्वगतातीतानुभवानामित्यादि-वाक्य का अभिप्राय है कि यदि अनुभूति को अनुभवान्तर का विषय नहीं माना जाय तो

फिर अपने अतीत कालिक अनुभव तथा दूसरे के द्वारा किये जाने वाले अनुभव अनुभूति नहीं कहला पायेगे। क्योंकि अपने अतीत कालिक अनुभव को भी जव हम स्मरण करते हैं तो वह वर्तमान कालिक अनुभव का विषय बनता है, तथा दूसरे व्यक्ति के अनुभवों का तो हम हानोपादान लिङ्ग के द्वारा अनुमान ज्ञान का विषय वनाते हैं। किञ्च यदि दूसरे के ज्ञान को अनुमान का विषय नहीं माना जाय तो फिर शब्द का अर्थ के साथ होने वाले सम्वन्ध का ग्रहण ही नहीं हो पायेगा, क्योंकि "गाम् आनय" इत्यादि वाक्यों को सुनकर चूँकि गो पद सास्नादिमती व्यक्ति को बतलाता है, अतएव इस व्यक्ति का आशय सास्नादिमती व्यक्ति को लाने केलिये ही है यह नियोज्य व्यक्ति अनुमान करता है, यदि वह गो पद को सुनकर भी वक्ता के आशय (ज्ञान) का अनुमान नही करेगा तो फिर कैसे गोत्वावच्छिन्न (गो) व्यक्ति को ला पायेगा? इसी तरह शिष्य जव यह जानता है कि जिनके पास मैं विद्याधिगम हेतु जा रहाहूँ वह व्यक्ति मदापेक्षया अधिक ज्ञानवान् है, इस तरह आचार्य के ज्ञान का ही अनुमान करके शिष्य आचार्योपसर्पण करता है। अतएव ज्ञान अनुभाव्य नही होता, यह कथन उचित नहीं है।

अनुभूतेरननुभाव्यत्वेऽपि - इत्यादि वाक्य द्वारा यह अनुमान अभिप्रेत है, अनुभूति अनुभूति से भिन्न है, क्योंकि वह अनुभाव्य नहीं है, जो जो अनुभाव्य (अनुभव का विषय) नहीं होता है वह-वह अनुभूति व्यतिरिक्त होता है, आकाश पुष्प के समान। अनुभूति भी अनुभव का विषय नही बनती है अतएव वह भी अनुभूति से भिन्न है।

मूल०-गगनकुसुमादेरननुभूतित्वमसत्त्व प्रयुक्तम्, नाननुभाव्यत्व प्रयुक्तमितिचेत्, एवंतर्हि घटादेरप्यज्ञान-विरोधित्वमेवाननुभूतित्वनिबन्धनम्, नानुभाव्यत्वमित्यास्थीयताम् । अनुभूतेरनुभाव्यत्वे अज्ञानाविरोधित्वमपि तस्याः घटादेरिव प्रसज्यत. इतिचेत् अननुभाव्यत्वेऽपि गगनकुसुमादेरिवाज्ञानाविरोधित्वमपि प्रसज्यत एव, अतोऽनुभाव्यत्वेऽननुभूतित्वमित्युपहास्यम् ।

अनुवाद— (यहाँ पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि) आकाश पुष्प आदि अनुभूतिसे भिन्न इसलिएहैं कि उनकी सत्ता नहीं पायी जाती, इसलिये नहीं कि वे अनुभव के विषय नहीं वनते हैं, तो फिर (इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि) घट आदि के अनुभूति से भिन्न होने का कारण (यह है कि) कि वे अज्ञान के विरोधी (Contradictory to Nescience) नहीं हैं,यह नही कि वे-अनुभवके विषय वनते हैं, यह आप मानें। (इस पर यदि आप यह कहें कि) अनुभूति को अनुभव का विषय मानने पर वह भी उसी तरह अज्ञान का अविरोधी वनेगी जिस तरह घट आदि,तो (इसके विषय में मेरा यह कहना है कि) अनुभूति को अनुभाव्य (Objcet of Consciousness) (अनुभव का विषय) नहीं माननेपर भी वह (अनुभूति) उसी प्रकार अज्ञान का अविरोधी होगी जिस तरह आकाश,पुष्प आदि । अतएव (अनुभूति) अनुभाव्य होने पर अनुभूति से भिन्न होगी, यह (अद्वैती विद्वानों का) कथन हास्यास्पद है ।

॥ अनुभूति के नित्यत्वानुमान का खण्डन ॥

मू०— यत्तु—संविदः स्वतः सिद्धायाः प्रागभावद्यभावादुत्पत्तिर्निरस्यते तदन्धस्य जात्यन्धेन यष्टिः प्रदीयते । प्रागभावस्य ग्राहकाभावादभावो न शक्यते वक्तुम्, अनुभूत्यैव ग्रहणात् । कथमनुभूतिस्सती तदानीमेव स्वाभावं विरुद्धमवगमयतीति चेत्, न ह्यनुभूतिः स्वसमकालवर्तिनमेव विषयो करोतीत्यस्ति नियमः, अतीतानागतयोर विषयत्व—प्रसङ्गात् ।

अनुवाद--(अद्वैती विद्वानों ने अनुभूति को नित्य सिद्ध करते हुये यह) जो कहा है कि—चूँकि अनुभूति स्वतः सिद्ध (Self-Proved) है अतएव उसके प्रगभाव (Antecedent None-Existence) आदि नहीं होते,इसलिये उसकी उत्पत्ति (Origin) का भी खण्डन हो जाता है। उनका कहना है कि अनुभूति की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि उसके प्रागभाव आदि अभाव नहीं होते। जिसके प्रागभाव आदि होते हैं, उसी की उत्पत्ति होती है, जैसे घट आदि। (अतएव अनुभूति नित्यहै।) तो अद्वैती विद्वानों का यह कथन) किसी जन्मान्ध व्यक्ति के द्वारा किसी अन्धे के मार्ग प्रदर्शन के समान (हास्यास्पद) है (अनुभूति) के प्रागभाव का ग्राहक कोई साधन नहीं अतएव उसके (अनुभूति के) अभाव का ही अभावहै; (क्योंकि ग्राहकाभावात् ग्राह्याभावः–

इस नियमके अनुसार जब अनुभूतिके प्राग भाव आदि का ग्राहक कोई प्रमाण ही नहीं है तो फिर अनुभूति के प्रागभाव आदि को कैसे स्वीकार किया जाय?) यह नहीं कहा जा सकता है (किञ्च- अनुभूति के प्रागभाव का) ग्रहण अनुभूति के द्वारा ही होता है। (इस पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि) किस तरह से अनुभूति वर्तमान रह कर उसी समय (अपने वर्तममान स्वभाव के) विरुद्ध अपने अभाव को बतला सकती है? तो यह कथन उचित नहीं है क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि अनुभूति अपने सम-कालवर्ती ही विषयों (Subjects) को विषय बनाये, (ऐसा मानने पर भूत एवं भविष्यत् (Past and Fieutuie)काल के विषय उसके विषय नहीं बन पायेंगे। (और देखा जाता है कि भूत कालिक विषयों का वह स्मरण (Remember) करती है तथा भविष्यत् कालिक विषयों का भी वह अनुमान करती है। (इसी तरह वर्तमान काल में अनुभूति अपने अतीतकालिक प्राग भाव का स्मरण तथा अनागत कालिक प्रध्वस का अनुमान करती है।)

मूल०—अथमन्यसे— अनुभूतिप्रागभावादेः सिद्धयतस्तत् समकालभाव नियमोऽस्तीति, किं त्वया क्वचिदेवं दृष्टम् ? यन्नियमं ब्रवीषि ? हन्त! तर्हितत एव- दर्शनात् प्रागभावादिसिद्ध इति न तदपह्नवः। तत्प्रागभावं च तत्समकालवर्तिनमनुन्नतः को- ब्रवीति? इन्द्रिय जन्मनः प्रत्यक्षस्य ह्येष स्वभाव

नियमः, यत्स्व समकालवर्तिनः पदार्थस्य ग्राह्-कत्वम् न सर्वेषां ज्ञानानां प्रमाणानाञ्च, स्मरणा-नुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिषु कालान्तरवर्तिनोऽपि-ग्रहणदर्शनात् । अतएव च प्रमाणस्य प्रमेयाविना-भावः— नहि प्रमाणस्य स्वसमकालवर्तिनाऽविना-भावोऽर्थसम्बन्धः, अपितु, यद्देशकालादि संबन्धि-तया योऽर्थोऽवभासते, तस्य तथाविधाकार मिथ्या-त्वप्रत्यनीकता, अत इदमपि निरस्तम्, स्मृतिर्न-बाह्य विषया, नष्टेप्यर्थे स्मृतिर्दर्शनात् इति ।

अनुवाद— इस पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि अनु-भूति के प्रागभाव आदि की जो सिद्धि होती है, उसे (अनुभूति के प्रागभाव आदि को) अनुभूति का समकालवर्ती (Contem-poraneous) होना चाहिये, यह नियम है, (तो इसके विषय में मैं यह पूछता हूँ कि) क्या आपने ऐसा कहीं देखा है (कि अनु-भूति का प्रागभावादि उसका समकालवर्ती होता है) कि इस तरह का नियम वतला रहे हैं ? यदि हाँ तो फिर उस दर्शन मे ही उसके प्रागभाव आदि की सिद्धि हो गयी, अतएव उसको नहीं छिपाया जा सकताहै । (किन्तु इसके विषयमें हमारा यह कहना है कि किसी वस्त का प्रागभाव आदि उस वस्तु का समकाल-वर्ती होता है, यह जो पागल नहीं होगा वह नहीं कह सकता है। (यहां यदि आप यह कहें कि तव तो फिर अतीतकालिक सभी घटों का दर्शन हमें क्यों नहीं होता है, तो इसका उत्तर यह है

कि) हम लोगों की इन्द्रियों से जन्य ही प्रत्यक्ष का यह नियम है कि वह वर्तमानकालिक विषयों को ही अपना विषय बनाता है (जिसके कारण हमलोग अतीतानागत कालिक घटों का साक्षात्कार (Perception) नहीं कर पाते हैं) सभी ज्ञानों एवं सभी प्रमाणों का यह नियम नहीं है। स्मरण (Ram-berence) अनुमान (Inference) आगम, (Seript ure) योगि प्रत्यक्ष आदि (ईश्वर प्रत्यक्ष) में तो कालान्तर में विद्यमान वस्तु का भी ग्रहण देखा जाता है। अतएव यह नियम है कि प्रमाणके साथ प्रमेय का अविनाभाव संबन्ध होताहै। (अर्थात् प्रमेय के विना प्रमाण होता ही नहीं है,) किन्तु यह नियम नही है कि प्रमेय प्रमाण का समकालवर्ती हो तथा समकालवर्ती ही प्रमेय के साथ प्रमाण का सम्बन्ध हो सके, वल्कि वस्तु जिस देश, जिस काल तथा जिस संस्थान से विशिष्ट प्रतीत होती है, उसके उसप्रकार के आकार का मिथ्यात्व की प्रत्यनीकता(प्रामाणिकता) का होना ही प्रमेय का प्रमाण के साथ अविनाभाव सम्बन्ध कहलाता है. अतएव बौद्धैकदेशी विद्वानों का यह कथन भी खण्डित हो गया कि स्मृति के बिषय वाह्य पदार्थ नहीं होते हैं, क्योंकि देखा जाता है कि विषय के नष्ट हो जाने पर भी उसका स्मरण वना ही रहता है।

टिप्पणि—

इन्द्रियजन्मन०- इत्यादि वाक्य में "इन्द्रियजन्मनः" पद का विशेषण "अस्मदादि पद" को मानना चाहिये। अतएव इस वाक्य का अभिप्राय यह हुआ कि हम लोगों की इन्द्रियों से जो

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों का साक्षात्कार होता है, उसी के लिए यह नियम है कि प्रमाण के विषय को वर्तमान-कालिक होना चाहिये किन्तु सभी प्रकार के ज्ञानों तथा सभी प्रमाणों के विषयमें यह नियम नहीं लागू होताहै। क्योंकि नित्य, मुक्त जीवों तथा ईश्वर प्रत्यक्ष के विषय तो अतीतकालिक तथा अनागतकालिक विषय भी बन जाते हैं। यही नहीं पूर्व की घट-नाओं तथा वर्तमानकालिक घटनाओं के आधार पर अनागत-कालिक वस्तु का अनुमान किया ही जाता है, स्मरण का यद्यपि प्रत्यक्षमें ही अन्तर्भाव होताहै किन्तु स्मरण अतीतकालिक विषय का होता ही है। आगम प्रमाण के भी विषय सभी कालों के विपय होते ही हैं। इसी तरह योगी भी अपनी तपस्या के कारण अतीतानागत काल की वस्तुओं तथा घटनाओं का साक्षात्कार कर लेता है।

अत इदमपि निरस्तम्— इत्यादि वाक्य का अभिप्राय है कि चूँकि--भिन्नकालिक वस्तु भी प्रमाणोंके विषय बनते हैं अत-एव बौद्धैकदेशी विद्वानों का यह भी कथन खण्डित हो गया कि स्मृति के विषय वाह्य वस्तु (घट पट आदि) नहीं हुआ करते है, क्योंकि देखा जाता है कि वस्तु तो नष्ट हो जाती है फिर भी उसका स्मरण होता रहताहै। यदि स्मरण का विषय बाह्यपदार्थ होता तो फिर उस पदार्थ के नष्टहो जानेपर उसका स्मरण नहीं होता,अतः सिद्ध होताहै कि स्मरण भी एकतरह का भ्रममात्र है, अतएव त्याज्यहै। यहाँपर यदि कोई यह कहे कि जो वस्तु नष्टहो गयी उसकातो स्मरण त्याज्यहो सकताहै,किन्तु जो वस्तु विद्यमान

है उसका तो स्मरण नहीं त्याज्य होना चाहिये, तो इसका उत्तर यह है कि वर्तमान वस्तु का भी जो स्मरण होताहै, वह भी ठीक-ठीक वस्तु को स्मरण नहीं कर सकता, उसमें वस्तु का स्व-रूप कुछ न्यूनाधिकमात्रा में अवश्य स्मृत होता है, अतएव वह भी त्याज्य ही है। इस तरह स्मरण सामान्य को ही त्याज्य समझना चाहिये। इस प्रकार से कहने वाले बौद्धैकदेशी विद्वानों का भी कथन खण्डित हो गया। यह कहने का अभिप्राय है कि आप स्मृति को वाह्य विषय के अभाव में उसका स्वरूप कैसा मानते है ? (१) क्या वह निर्विषय है? यानी उसका कोई विषय नहीं होता है क्या? ऐसा तो आपका कहना उचित न होगा और न तो आपको ऐसा कहना इष्ट ही है। (२) क्या आप ऐसा मानते हैं कि स्मृति केवल अपने को ही अपना विषय बनाती है, ऐसा भी आप इसलिए नहीं मान सकतेहैं कि योगाचार बौद्ध जो विज्ञान-वादी हैं, वह भी यही मानता है, ऐसी हालत में उसकी ही वात क्यों न मानी जाय ? और ऐसा मानने पर स्मृति को स्वरूपप्रकाश से अतिरिक्त कुछभी नहीं मानना होगा। (३)अथवा आप यह मानते हैं कि जिन--जिन आकारों का स्मरण होता है, उन--उन आकारों के भ्रम की कल्पना कर लेता है जीव ? यह इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि यहाँपर आप अभ्युपगमवाद को अपनायें तो फिर यहाँ यही क्यों न मान लिया जाय कि जिन वस्तुओं की प्रतीति स्मृति में होती है वे प्रामाणिक हैं। (४) यदि यहाँ पर आप यह कहें कि स्मृति अन्तःकरण को अथवा किसी अन्य वस्तु को ही अपना

विषय वनाती है, तो आपके इस कथन में भी कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि जैसी स्मृति होती है, वैसा ही अन्तःकरण तो है नहीं, अब रही वस्त्वन्तर की बात तो इसके विषय में मेरा निवेदन है कि उसतरह की कोई दूसरी वस्तु हो जिसका स्मरण हो रहा है, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। (५) यदि आप यहाँ कहें कि अनुभव के विषय रूप जो अन्तःकरण की वृत्तियां हैं वे ही स्मृति के विषय वनती हैं तो आपके इस कथन में भी कोई प्रमाण नहीं है, अतएव यही मानना चाहिये कि जिन वस्तुओं का हम अनुभव-अतीतकाल में कर चुके हैं उसी अनुभव को जव वर्तमानकालिक अनुभव अपना विषय बनाता है तो उसे स्मृति कहते हैं। अतएष उसे पूर्वानुभूत वस्तुओं का संस्कारज मात्र कह सकते हैं। यह भी जो लोग कहते है कि प्रत्यक्ष व्यतिरिक्त सभी प्रमाणोंमें वाह्य पदार्थों के समान अन्तःकरण की वृत्ति ही प्रतीति होती है, उनका भी कथन खण्डित हो गया।

मूल— अथोच्येत—न तावत् संवित् प्रागभावः प्रत्यक्षावसेयः, अवर्तमानत्वात्। न च प्रमाणान्तरावसेयः लिङ्गाद्यभावात्। नहि संवित् प्रागभावव्याप्तमिह-लिङ्गमुपलभ्यते। न चागमस्तद्विषयो दृष्टचारः। अतस्तत्प्रागभावः प्रमाणाभावादेव न सेत्स्यति—इति, यद्येवं, स्वतःसिद्धत्वविभवं परित्यज्य-प्रमाणाभावेऽवरूढश्चेत् योग्यानुपलब्ध्यैवाभावः समर्थितः इत्युपशाम्यतु भवान्।

अनुवाद—यहाँ पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि संवित् के प्रागभाव का निश्चय प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह (संवित् का प्रागभाव) वर्तमान्कालिक नहीं होता है। दूसरे अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा भी उसका निश्चय नहीं किया जा सकताहै; क्योंकि उसमें लिङ्ग (Characteristic Mark) आदि का अभाव है कोई ऐसा लिङ्ग(हेतु) भी नहीं देखा जाता जिसकी व्याप्ति का ग्रहण संवित् के प्रागभाव के साथ हो सके। संवित् के प्रागभाव को सिद्ध करने वाला कोई आगमीय प्रमाण भी नहीं है। अतएव प्रमाणों के अभाव में संवित् के प्रागभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि ऐसी बात है कि आप अनुभूति के स्वतः सिद्धत्वरूपी ऐश्वर्य का त्याग करके अनुभूति के प्रागभाव में प्रमाणाभाव पर आ गये हैं तो (मैं बतलाता हूँ कि) योग्यानुपलब्धि नामक प्रमाण के द्वारा ही उसका प्रागभाव समर्थित मैंने कर दिया है,अतएव आप शान्त हो जायँ।

टिप्पणि—

योग्यानुपलब्ध्यैवाभावः समर्थितः— अद्वैती विद्वान् निर्विशेष संवित् को मान कर यह कहते हैं कि यद्यपि ऐसी संवित् में कोइ प्रमाण नहीं हो सकता फिर भी संवित् के स्वतः सिद्ध होने के कारण उसकी सिद्धि में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। किन्तु संवित के प्रागभाव के विषय में उनका कहना है कि संवित् के प्रागभाव आदि इसलिए नहीं स्वीकार किये जा सकते हैं कि उनके होने में कोई प्रमाण ही नहीं है। इस पर सिद्धान्ती का कहना

है कि संवित् के प्रागभावमें योग्यानुपलब्धि ही प्रमाण है। अद्वैती विद्वान् योग्यानुपलब्धि को भी एक प्रमाण रूप से स्वीकार करते हैं। उसका स्वरूप इस प्रकार से है—यदि ज्ञान सर्वदा रहता तो उसकी अनुभूति सदा स्वापादिकाल में भी होती रहती, चूँकि उक्त काल में ज्ञान नहीं रहता है, अतएव सिद्ध होता है कि ज्ञान सर्वदा न रहकर कभी२ रहताहै इसतरह उसके प्रागभाव आदि की भी सिद्धि हो जाती है। अब यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि—विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में ज्ञान की योग्यानुपलब्धि का स्वरूप क्या होगा ? तो इसका उत्तर है कि सिद्धान्त में उसका अवस्थान्तरोपलब्धि ही स्वरूप है। अर्थात् अतीतकालमें ज्ञान का अभाव उसकी संकोचावस्था अथवा वस्त्वन्तर का ज्ञान ही माना जा सकता है। अतीतकालिक गज ज्ञान की बुभुत्सा होने पर उस समय में होने वाले स्वाप इत्यादि का प्रतिसन्धान अथवा घट आदि के ज्ञान का प्रतिसंधान रूप जो ज्ञान की योग्यानुपलब्धि है वही हेतु (लिङ्ग) रूपसे उक्त गज ज्ञानके अभाव का निश्चायक बन जाता है।

मूल— किञ्च- प्रत्यक्षज्ञानं स्वविषयं घटादिकं स्वसत्ताकाले सन्तं साधयत्तस्य न सर्वदा सत्तामवगमयद् दृश्यत इति घटादेः पूर्वोत्तरकाल सत्ता न प्रतीयते। तदप्रतीतिश्च संवेदनस्य काल परिच्छिन्नतया— प्रतीतेः। घटादि विषयमेव संवेदनं स्वयं कालानवच्छिन्नं प्रतीतं चेत्, संवेदन विषयो घटादिरपि

कालानवच्छिन्नः प्रतीयेतेति नित्यः स्यात् । नित्यं चेत् संवेदनं स्वतःसिद्धं नित्यमित्येव प्रतीयेत, न च तथा प्रतीयते । एवमनुमानादि संविदोऽपि काला-नवच्छिन्नाः प्रतीताश्चेत् स्वविषयानपि कालानव-च्छिन्नान् प्रकाशयातीति ते च सर्वे कालानवच्छिन्ना नित्याः स्युः संविदनुरूप स्वरूपत्वात् विषयाणाम् ।

अनुवाद— (ऊपर यह वतलाया गया है कि देखा जाता है कि ज्ञान सर्वदा नहीं बना रहता है, वल्कि वह समय विशेष में उदित होकर समय विशेष में नष्ट हो जाता है। इस तरह योग्यानुपलब्धि के द्वारा ही उसका अभाव समर्थित हो जाता है। अब यहां पर यह वतलाया जा रहा है कि यदि ज्ञान नित्य होता तो विषयों का जो साक्षात्कार होता है, वह कादाचित्क न होकर नित्य होता है। फलतः सभी विषय भी नित्य होते, जो अद्वैत सिद्धान्त के भी विपरीत है।) किञ्च—प्रत्यक्षज्ञान अपने विषयभूत घट आदि की अपनी सत्ताकाल में विद्यमानता सिद्ध करते हुए घट आदि की सत्ता को सार्वकालिकी नहीं वतलाते हुये दिखते हैं, इसतरह घट आदि की सत्ता ज्ञानसे पूर्वकाल तथा ज्ञान के उत्तरकाल में नहीं प्रतीति होती है। वह घटादि ज्ञानका अभाव ज्ञानके कालपरिच्छिन्न होनेके कारण होताहै। यदि घटादि विषयक ही ज्ञान स्वयंकाल से परिच्छिन्न (Limited) (सीमित) नहीं होता तो ज्ञान के विषय बनने वाले घट आदि भी काल से परिच्छिन्न प्रतीत नहीं होंगे, फलतः वे नित्य होंगे। यदि ज्ञान

शाश्वत होता तो स्वतः सिद्ध होने के कारण वह नित्य (Eternal) ही प्रतीत होता, किन्तु वह शाश्वत रूप से नहीं प्रतीत होता है। (अतएव ज्ञान अनित्य सिद्ध होता है।) इसी तरह अनुमान आदि से जन्य जो ज्ञान हैं वे भी यदि शाश्वत रूप से प्रतीत होते तो वे अपने बिषयों को भी शाश्वत रूप से प्रकाशित करते, फलतः वे (अनुमान के) विषय भी शाश्वत होते, क्योंकि यह नियम है कि विषयों का स्वरूप अपने ज्ञान के अनुरूप ही हुआ करता है।

टिप्पणि—

ज्ञान की उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए सिद्धान्ती का कहना है कि हम लोगों के जो ज्ञान घटादि विषयों को प्रकाशित करते हैं, यदि वे प्रत्यक्ष ज्ञान (General Perception) नित्य होते तो हम लोगों को सदा घटादि विषयों का प्रकाश होते रहना चाहिये। क्योंकि हम लोगों का प्रत्यक्ष ज्ञान उन्हीं विषयों को अपना विषय वनाते हैं जो ज्ञान के काल में विद्यमान होते हैं। यदि हम लोगों का प्रत्यक्ष ज्ञान नित्य होता,तो वह सदा रहता, और उस ज्ञान के विषय भी सदा रहते। जब तक प्रत्यक्ष ज्ञान रहेगा तब तक उसके विषयों को भी रहना चाहिये, तब ही वह वर्तमान विषयों का ग्राहक सिद्ध होगा। किन्तु देखा जाता है कि घटादि अनित्य हैं, अतएव उनको अपना विषय बनाने वाला प्रत्यक्षज्ञान भी अनित्य होगा। किञ्च–देखा जाता है कि घटादि विषय रहते हैं किन्तु उनका ज्ञान नहीं होता है, इससे सिद्ध होता

है कि वीच में ही उनका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है अतएव ज्ञान का प्रागभाव और उसकी उत्पत्ति सिद्ध होती है। यह भी देखा जाताहै कि घटादि विषय बने रहते हैं फिर भी उनका ज्ञान नष्ट हो जाता है, इस तरह ज्ञान का प्रध्वंस (Distruction) सिद्ध होता है। ज्ञान का विस्मरण (Forgetting) जो होता है उससे भी ज्ञान का नाश सिद्ध होताहै, अतएव ज्ञान की अनित्यता ही प्रामाणिक है, नित्यता नहीं।

❀ कोई भी ज्ञान निर्विषयक नहीं होता है ❀

मूल— न च निर्विषया काचित् संविदस्ति, अनुपलब्धेः। विषयप्रकाशन स्वभावतयैवोपलब्धेरेव हि संविदः स्वयप्रकाशता समर्थिता। संविदो विषयप्रकाशनता स्वभावविरहे सति—स्वयंप्रकाशत्वासिद्धेः अनुभूतेरनुभवान्तराननुभाव्यत्वाच्च संविदस्तुच्छतैव स्यात्। न च स्वापमदमूर्छादिषु सर्वविषयशून्या केवलैव संवित् परिस्फुरतीति वाच्यम्, योग्यानुपलब्धि—पराहतत्वात्। तास्वपिदशास्वनुभूतिरनुभूता चेत्—तस्याः प्रबोधसमयेऽनुसंधानं स्यात्, न च तदस्ति।

अनुवाद— (अद्वैती विद्वान् मानते हैं कि आश्रय विषय विहीन संवित् (Knowledge Without Substrate and Object) ही आत्मा है उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं) और कोई भी संवित् (ज्ञान) विषय विहीन नहीं हुआ

करतीहै। क्योंकि इस प्रकारके ज्ञानकी उपलब्धि (Ajuisition) ही नहीं होती है। और मैंने इस बात का पहले समर्थन किया है- कि संवित् को स्वयंप्रकाश इसलिए माना जाता है कि उसकी (ज्ञान की) जब कभी भी उपलब्धि होतीहै उसका स्वभाव होताहै कि वह अपने विषयों को प्रकाशित करते हुए उपलब्ध होता है। यदि संवित् का स्वभाव विषयों का प्रकाश करना नहीं माना जाय तो फिर उसके स्वयं प्रकाशत्व (Self Luminouusness) की भी सिद्धि नहीं हो सकती है, और अनुभूति के दूसरे अनुभव का विषय नहीं बनने के कारण, आपकी विषय विहीन सवित् तुच्छ (Unreal) ही सिद्ध होगी। यदि यहाँ पर अद्वैती-विद्वान् यह कहें कि यदि संवित् सदा विषययुक्त ही हुआ करती तो स्वाप (Deep slip) मद (Swoon) एव मूर्छाके समय में भी विषयों की प्रतीति होती, किन्तु) स्वाप, मद, एव मूर्छा (Senselessness) काल में विषय विहीन केवल संवित् ही प्रकाशित होतीहै, (अतएव संवित् को निर्विषयिणी ही मानना चाहिये। तो वे ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उक्त कथन का खण्डन योग्यानुपलब्धि (Valid none-perception) प्रमाण से ही हो जाता है। क्योंकि यदि विषय विहीन भी कोई ज्ञान होता तो उसकी भी उपलब्धि होती, चूँकि ऐसे किसी भी ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती अतएव ज्ञात होता है कि ज्ञान निर्विषयक नहीं होता है। किञ्च स्वाप, मद, मूर्छा आदि के विषय में मेरा कथन यह है कि उक्त कालों में ज्ञान का अभाव होता है, ज्ञान का सद्भाव ही नहीं रहता।) क्योंकि यदि उन दशाओं में भी

किसी ज्ञानका अनुभव होता तो जगनेपर उन ज्ञानों का अनुसंधान होता, चूँकि (जगने पर उक्त कालों में होने वाले ज्ञान का-अनुसंधान) नहीं होता है, (अतएव पता चलता है कि उक्त-कालों में किसी भी प्रकार का ज्ञान होता ही नहीं है ।)

मूल०—नन्वनुभूतस्य पदार्थस्य स्मरणनियमो न दृष्टचरः अतः स्मरणाभावः कथमनुभवाभावं साधयेत् ? उच्यते—निखिल संस्कार तिरस्कृतिकर देहविगमादि प्रबल हेतु विरहेप्यस्मरण नियमोऽनुभवाभावमेव साधयति, न केवलमस्मरण नियमादनुभवा भावः,सुप्तोत्थितस्य 'इयन्तं कालं न किञ्चिदहमज्ञासिषम्' इति प्रत्यवमर्शेनैव सिद्धेः । न च सत्यप्यनुभवे तदस्मरण नियमो विषयावच्छेद-विरहात् अहंकारविगमाद्वेति शक्यते वक्तुम्, अर्थान्तराननुभवस्य अर्थान्तराभावस्य च अनु-भूतार्थान्तरास्मरण हेतुत्वाभावात्, तास्वपि दशा-स्वहमर्थोऽनुवर्तत इति च वक्ष्यते ।

अनुवाद— (यहां पर अद्वैती विद्वान् यह कहें कि) यह कोई नियम (Absolute-rule) नहीं है कि जिन विषयों का अनुभवकिया गया हो उसकास्मरणहो । अतएव स्वापादिकालमें हुई अनुभूति के) स्मरण का अभाव (Absence of Remem-berance) तत्कालीन अनुभव के अभाव की सिद्धि कैसे कर

सकता है ? (तो इसका उत्तर देते हुये सिद्धान्ती कहते हैं— उच्यते—अर्थात्, सुनो, (अनुभूत विषयों के) सारे संस्कारों (Impressions) को तिरोहित कर देने वाले (Obliterator) देह पात आदि प्रवल हेतुओं के अभाव में भी, अनुभव का स्मरण का अभाव (स्वापादिकालों में होने वाले) अनुभवों के अभाव को ही सिद्ध करता है। (अर्थात् जब कोई कारण नहीं है कि स्वापकाल में हुये अनुभव के संस्कारों का प्रमोष हो जाय तो भी यदि सोकर जगने वाला व्यक्ति किसी प्रकार के स्वापकालिक अनुभव का स्मरण नहीं करता है, तो इससे यही सिद्ध होता है कि उक्त काल में किसी प्रकार का अनुभव नहीं होता है।) केवल स्मरणाभाव नियमके ही कारण स्वापकालमें अनुभव का अभाव नहीं सिद्ध होता है, अपितु सोकर उठने वाला व्यक्ति यह अनुभव करता है कि (मैं इस तरह सोया कि) इतने समय तक कुछ भी नहीं जान सका। उसके इस प्रत्यवमर्श (Profoundrefleetion) से ही सिद्ध होता हैं (कि स्वापकाल में कोई भी ज्ञान नहीं होता है।)

(यहां पर यह नहीं कहा जा सकता कि) 'यद्यपि स्वापकाल में अनुभव (ज्ञान) तो रहता है फिर भी उसका नियमतः स्मरण का अभाव इसलिए होता हैं कि (उस संमय) उस ज्ञान का किसी विषय से सम्बन्ध नहीं होता है, अथवा उक्त काल में अहंकार (Ego) का अपाय हो जाता है। (इन दोनो कारणों से ही अनुभवका स्मरण नहीं होताहै,) क्योंकि अर्थान्तर (विषयों) के अनुभव का न होना, तथा अर्थान्तर (अहंकार) का अभाव

अनुभव किये गये अर्थान्तर (ज्ञान) के स्मरण के अभाव के कारण नहीं हो सकतेहैं, और आगे चलकर (अहमर्थ के आत्मत्व समर्थन के प्रसंग में) हम कहेंगे कि स्वापादिकाल में भी अहमर्थ ही अनुवर्तित होता है।

टिप्पणि—

निखिल संस्कार तिरस्कृतिकर— इत्यादि वाक्य का आशय यह है कि जब हम किसी विषय का अनुभव करते हैं तो उस अनुभव का संस्कार (Impression) हमारे मस्तिष्क में अंकित हो जाता है, उस संस्कार के ही कारण हम अनुभव का स्मरण किया करते हैं। जब काल की दीर्घता, व्याधि आदि के कारण उस संस्कार का प्रमोष हो जाता है, तब उस अनुभव का स्मरण नहीं होता है। यहाँ पर संस्कारों के प्रमोषक रूप से वस्तुओं को बतलाते हुए कहा गया है कि, संस्कारों का सम्पूर्ण रूप से प्रमोष करने का साधन देह विगम आदि हैं। यह प्रश्न है कि जन्मान्तर में अनुभूत वस्तुओं का स्मरण क्यों नही होता है? इसका उत्तर देते हुये श्री यामुन मुनि ने संवित् सिद्धि में कहा है—

'प्रायणान्नरक क्लेशात् प्रसूति व्यसनादपि
चिरान्निवृत्ताः प्राग्जन्म भेदाः न स्मृतिगोचराः।'

अर्थात् मृत्युकाल में देह त्याग के समय होने वाली असह्य-व्यथा के कारण, मृत्यु के पश्चात् होने वाले नारकीय यातनाओं के क्लेशों के कारण तथा पुनः गर्भवासकालिक तथा उत्पत्ति-कालिक दुसह दुखों के कारण दीर्घ काल से परित्यक्त पूर्व जन्म के भोगों का स्मरण नहीं हो पाताहै। श्रीभाष्यकार ने देहविगमादि

पद से उन सभी हेतुओं की ओर निर्देश किया है जो संस्कार के के प्रलल प्रमोषक हेतु है।

मूल-- ननु स्वापादि दशास्वपि सविशेषानुभवोऽस्तीति पूर्वमुक्तम् । सत्यमुक्तम् । सत्वात्मानुभवः । स च सविशेष एवेति स्थापयिष्यते । इह तु सकलविषय विरहिणी निराश्रया च संविन्निषिध्यते । केवलैव संविदात्मानुभव इति चेत् न, सा च साश्रयेति ह्युपपादयिष्यते, अतोऽनुभूतिः सती स्वयं स्वप्राग-भावं न साधयतीति प्रागभावासिद्धिर्नशक्यते वक्तुम्, अनुभूतेरनुभाव्यत्वसम्भवोपपादनेनन्यतो-ऽप्यसिद्धिर्निरस्ता, तस्मान्न प्रागभावाद्यसिद्धया, संविदोऽनुत्पत्तिरूपपत्तिमती ।

अनुवाद— यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि आपने पहले कहा है कि उन (स्वाप आदि) दशाओं में भी सविशेष अनुभव होता रहता है ? (इस पर विशिष्टाद्वैती कहते हैं) हाँ मैंने कहा है; किन्तु वह आत्मानुभव है, और (आगे चलकर हम इस अर्थ को) स्थापित करेंगे कि वह अनुभव सविशेष ही होता है। (इस पर यदि अद्वैतीविद्वान् पूछें कि फिर आप किस चीज का यहां निषेध कररहे हैं? तो इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहतेहै।) यहाँपर तो सम्पूर्ण विषयों से रहित तथा आश्रय रहित (Without-Substrate) ज्ञान का निषेध कर रहे हैं। यदि आप (अद्वैती

विद्वान् यह कहें कि केवल (निर्विशेष) ज्ञान ही आत्मानुभव है तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आत्मानुभव रूप भी ज्ञान आश्रय विषय सम्पन्न ही है। यह मैं प्रतिपादन करूँगा।

अतएव अद्वैती विद्वान् यह नहीं कह सकते हैं कि चूँकि अनु-भूति वर्तमान रह कर अपने प्रागभाव को नहीं सिद्ध कर सकती है फलतः इसके प्रागभाव आदि अभाव नहीं होत हैं। (क्योंकि अनुभूति स्वयं भी अपने प्रागभाव की सिद्धि करती है, यह मैं पहले सिद्ध कर चुका हूँ।) अनुभूति के अनुभाव्यत्व की सिद्धि करने के कारण अनुभूति के प्रागभाव आदि के ग्राहक के अभाव का मैंने खण्डन कर दिया है अतएव (अद्वती विद्वानों का यह कथन) युक्त सगत नहीं है कि अनुभूति की उत्पत्ति नहीं होती है क्योंकि उसके प्रागभाव आदि नहीं होते हैं।

टिप्पणि—

सा च साश्रयेति— वाक्य का अभिप्राय है कि- अद्वैती विद्वान् केवल (निर्विशेष) संवित् को आत्मा मानते हैं वह संवित् आत्मा का धर्मभूत है, और उसका आश्रयभूत आत्मा उससे भिन्न है। क्योंकि अद्वैती विद्वान् मानते हैं कि स्वापादिकाल में अनुभूति स्फुरित होती है, अतएव स्फुरण उसका धर्म होगा। जिस तरह प्रभाश्रय सूर्य की प्रभा सूर्य की धर्मभूता है, उसीतरह धर्मभूतज्ञान ज्ञानस्वरूप आत्मा का धर्म है। धर्मी ज्ञान स्वरूप आत्मा का स्फुरण नित्य है, और धर्म भूत ज्ञान मे ही संकोच विकास रूप उसका सद्भाव और असद्भाव हुआ करता है।

मू०—यदप्यस्या अनुत्पत्या विकारान्तर निरसनम्, तदप्यनुपपन्नम्, प्रागभावे व्यभिचारात्। तस्य हिजन्माभावेऽपि विनाशो दृश्यते। भावेष्विति विशेषणे तर्ककुशलताविष्कृता भवति। तथा च भवदभिमताऽविद्यान्नुत्पन्नै व विविधविकारास्पदं तत्त्वज्ञानोदयादन्तवती चेति तस्यामनैकान्त्यम्। तद्विकाराः सर्वे मिथ्याभूता इति चेत् किं भवतः परमार्थभूतोऽप्यस्ति विकारः येनैतद्विशेषणमर्थवद् भवति नह्यसावभ्युपगम्यते।

अनु०—अद्वैती विद्वान् जो उत्पन्न न होने के कारण उसके अन्य (उत्पत्ति,वृद्धि,अपक्षय आदि) विकारों (changes) का निरसन करते हैं, वह युक्ति संगत नहीं, है। (अद्वैती विद्वान् कहते हैं कि चूँकि अनुभूति उत्पन्न नहीं होती है, अतएव उसमें अन्य वस्तुओं में पाये जाने वाले वृद्धि आदि विकार नहीं होते हैं, क्योंकि जो उत्पन्न होते हैं, उनमें ही भावों में पाये जाने वाले षड् विकार होते हैं तो इनका यह कथन भी तर्क संगत नहीं होता है) क्योंकि विकारान्तर का निरास करने वाला अनुत्पत्ति हेतु) प्रागभाव में व्यभिचरित होता है, क्योंकि वस्तुओं का प्रागभाव उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु (जिस वस्तु का प्रागभाव होता है, उस वस्तु के उत्पन्न हो

जाने पर) उसका विनाश (रूप विकार) होता है। दूसरी बात य; कि अद्वैती विद्वानों ने महा पूर्व पत्त में कहा है—'उत्पत्ति प्रतिबद्धाश्चान्येऽपि भावविकारास्तस्याः न सन्ति।' अर्थात् उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाले अन्य भी भावों (पदार्थों) में पाये जाने वाले विकार अनुभूति में नहीं पाये जाते हैं। यहाँ पर विकार का विशेषण (Attributes) आपने भाव दिया है। (अर्थात् भाव पदार्थों में पाये जाने वाले विकार यह उनका भाव रूप विशेषण उनकी तर्क की कुशलता का ही परिचय देता है। अर्थात् आप तर्क के प्रसङ्ग में उचित विशेषण भी देना नहीं जानते कहने का आशय है कि आप (अद्वैती विद्वानों) की अभिमत अविद्या (Ne Science) भी अनादि होने के कारण उत्पन्न नहीं होती है, फिर भी वह अनेक विकारों का आस्पद (आश्रय) बनती है और तत्त्वज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर उसका विनाश होता है अतएव वह अनुत्पन्नत्व रूप हेतु उस अविद्या में अनेकान्तिक (Unsteady) नामक दोष से दूषित है। (यहाँ पर यदि आप कहें कि) अविद्या में होने वाले सभी विकार मिथ्या हैं, तो इसके विषय में मेरा पूछना है कि क्या आपके मत में कोई परमार्थ (Real) भी विकार होता है ? यदि नहीं तो फिर 'मिथ्याभूत' इस विकारों के विशेषण का क्या अर्थ है आपके मत में परमार्थ विकार तो स्वीकार ही नहीं किया जाता है। (अतएव अनुभूति में संकोच विकास रूप विकार स्वीकार करना ही चाहिये।)

❀ ज्ञान के भेद का समर्थन ❀

मूल—यदपि-अनुभूतिरजत्वात् स्वस्मिन् विभागं न सहते इति तदपि नोपपद्यते, अजस्यै वात्मनो देहेन्द्रियादिभ्यो विभक्त त्वात् । अनादित्वे न चाभ्युपगताया अविद्याया आत्मनो व्यतिरेकस्यावश्याश्रयणीयत्वात् स विभागो मिथ्यारूप इति चेत्, जन्म प्रतिबद्धः परमार्थविभागः किं क्वचिद् दृष्टस्त्वया? अविद्याया आत्मनः परमार्थतो विभागाभावे वस्तुतो ह्यविद्यैव स्यादात्मा । अबाधित प्रतिपत्तिसिद्धदृश्य भेदसमर्थनेन दर्शनभेदोऽपि समर्थित एव छेद्यभेदात् छेदनभेदवत् ।

अनु०—(अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि अजा (उत्पन्न होने वाली नहीं) होने के कारण अनुभूति का अपने में कोई विभाग नहीं हो सकता है उनका वह भी कथन उपपन्न (Suitable) नहीं हो पाता है। क्योंकि [न जायते म्रियते वा विपश्चित् इस वाक्य के अनुसार] अज ही आत्मा के देह इन्द्रियों आदि से विभाग (भेद) होता ही है। [कहा भी गया है—'पिण्डः पृथग् यतः पुंसः' यहाँ पर आत्मा से शरीर के भेदों रूप सामान्य भेद का प्रतिपादन अभिप्रेत है। किञ्च अनादि रूप से स्वीकार की जाने वाली अविद्या का भी आत्मा से भेद अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिये, क्योंकि अविद्या

का आत्मा से भेद आप भी स्वीकार करते हैं, 'षडस्माकं-अनादयः" कहकर। यहाँ संवित् का सजातीय भेद बतलाया गया है। यदि आप कहें कि वह भेद मिथ्या है तो क्या आपने जन्म [उत्पत्ति] से संबन्ध रखने वाला कोई परमार्थ भेद भी देखा है क्या? किञ्च यदि अविद्या का आत्मा के साथ परमार्थ भेद नहीं स्वीकार किया जायेगा तो फिर वास्तव में अविद्या ही आत्मा कहलायेगी। और अबाधित ज्ञान से सिद्ध होने वाले दृश्य (पदार्थों) का भेद समर्थन करने के कारण दर्शन का भी भेद सिद्ध हो ही गया। यह दृश्य के भेद की सिद्धि के द्वारा दर्शन का भेद उसी तरह से सिद्ध हो गया जिस तरह छेद्य [काटने योग्य वृक्ष आदि पदार्थों के] भेद से छेदन क्रिया का भेद होता है।

टिप्पणि—

अबाधित प्रतिपत्ति—कहने का अभिप्राय यह है कि पूर्वपक्षीने महापूर्व पक्षमें भेदकी प्रमाणानुपपत्ति तथा प्रमेयानुपपत्ति उपस्थित किया है, उसका महा सिद्धान्त में पहले खण्डन किया गया है और इस बात का समर्थन किया गया है कि प्रतीयमान प्रपञ्च भेद सत्य है। इस तरह दृश्य पदार्थों का भेद समर्थित किया गया है। और जब दृश्यों का भेद सिद्ध हो गया तो वेजिन दर्शन क्रियाओं के विषय बनते हैं उनका भी भेद सुतरां सिद्ध हो गया।

'छेद्यभेदाच्छेदनभेदवत्' इस वाक्य का अभिप्राय है कि जिस तरह काटे जाने वाले वृक्ष आदि पदार्थों में भिन्नता

होने पर उनमें होने वाली छेदन क्रिया में भी भिन्नता होती ही है। संवित् सिद्धि में श्री यामुनाचार्य लिखते हैं–

प्रतिप्रमातृ विषयं परस्पर विलक्षणाः।
अपरोक्षं प्रकाशन्ते सुख दुःखादिवद् धियः॥

प्रत्येक प्रमाताओं को होने वाले, प्रत्येक विषय सम्बन्धी ज्ञान, आपस में एक दूसरे से भिन्न उसी तरह से साक्षात् प्रतीत होते हैं जिस तरह प्रत्येक व्यक्तियों के सुख दुख आपस में भिन्न प्रतीत होते हैं। यदि यहाँ पर अद्वैती विद्वान् यह कहें कि यद्यपि ज्ञान एक ही है फिर भी ज्ञाता ज्ञेय आदि अवच्छेदक भेद के कारण उसमें भिन्नता की प्रतीति उसी तरह होती है जिस तरह एक ही आकाश घट पट आदि उपाधियों के भेद के कारण घटाकाश मठाकाश इस तरह से भिन्न–भिन्न प्रतीत होता है। इसका उत्तर देते हुए आप कहते हैं—

"संबन्धीव्यङ्ग्य भेदस्य संयोगेच्छादिकस्य तु।
न हि भेदः स्वतो नास्ति ना प्रत्यक्षश्च सम्मतः"

अर्थात् आश्रय के द्वारा ही व्यक्त होने वाले संयोग, इच्छा आदि के भेदों का प्रत्यक्ष स्वतः हुआ करता है। अर्थात् संबंधी (आश्रय) के द्वारा ही संयोग आदि का संयोगान्तर से भेद ज्ञात होता है, एतावता यह यहीं कहा जा सकता है कि सभी संयोग एक ही है, ऐसे ही आश्रय के द्वारा अभिव्यक्त होने वाली चैत्र की इच्छामैत्र की इच्छासे भिन्नही मानी जायेगी। इसी तरह विषय एवं आश्रय के भेद से प्रतीयमान जो संविद्

का भेद है, वह भी वास्तविक ही है। कहने का आशय यह कि सम्बन्धी (आश्रय) दो प्रकार के होते हैं- (१) सत्ता का हेतु-भूत (२) व्यक्ति (अभिव्यक्ति) का हेतु भूत। जिन संयोगादिकों का सम्बन्धी को छोड़ कर स्वरूप में कोई दूसरा प्रमाण नहीं है उसका संवन्धी उनकी सत्ता का हेतु होता है। और जिनका आश्रय अभिव्यक्ति का कारण वनता है वह संवन्धी व्यक्ति का हेतु माना जाता है।

❀ अनुभूति के निर्धर्मकत्व का खण्डन ❀

मूल—यदपि नास्या दृशेर्दृशिरूपाया दृश्यः कश्चिदपि धर्मोऽस्ति, दृश्यत्वादेव तेषां न दृशिधर्मत्वम् इति च। तदपि स्वाभ्युपगतैः प्रमाणसिद्धैर्नित्यत्व स्वयंप्रकाशत्वादिधर्मैरुभयमनैकान्तिकम्। न च ते संवेदनमात्रम्, स्वरूपभेदात्। स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति कस्यचिद्विषयस्य प्रकाशनं हि संवेदनम्। स्वयं प्रकाशता तु स्वसत्तयैव स्वाश्रयाय प्रकाशमानता। प्रकाशश्च चिदचिदशेषपदार्थसाधारणं व्यवहारानुगुण्यम्। सर्वकालवर्तमानत्वं हि नित्यत्वम्। एकत्वमेक संख्यावच्छेद इति। तेषां जडत्वाद्यभावरूपतायामपि तथाभूतैरपि चैतन्यधर्मभूतै रनैकान्त्यमपरिहार्यम्। संविदि तु स्वरूपातिरेकेण जड़त्वादि प्रत्यनीकत्वमित्यभावरूपो

भावरूपो वा धर्मो नाभ्युपेतश्चेत्, तत्निषेधोक्त्या किमपि नोक्तं भवेत् ।

अनुवाद— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि अनुभूति ज्ञानमात्र स्वरूप है, अतएव इसका कोई दृश्य धर्म नहीं है, और दृश्यरूप (ज्ञान के विषय) होने के ही कारण वे अनुभूति के धर्म नहीं हो सकते हैं, तो ये दोनों हेतु, अद्वैती विद्वानों के द्वारा स्वयं स्वीकृत प्रमाणों के द्वारा सिद्ध–नित्यत्व, स्वयं–प्रकाशत्व आदि (एकत्व) धर्मों के द्वारा अनैकान्तिक सिद्ध हो जाते हैं । और यह नहीं कहा जा सकता है कि वे (नित्यत्व-आदि) ज्ञानमात्र ही हैं क्योंकि उनका ज्ञान से तथा परस्पर में भी, स्वरूपतः भेद है । अपनी सत्ता मात्र से ही अपने आश्रय के प्रति किसी वस्तु को व्यवहार के अनुगुण बना देने वाले को ही संवेदन (ज्ञान) कहा जाता है । और अपनी सत्ता मात्र से ही अपने आश्रय के प्रति प्रकाशित होते रहने को स्वयं प्रकाशता कहते है । जड़ चेतन सभी पदार्थों को समानरूप से व्यवहार के अनुगुण बना देने को ही प्रकाश कहते हैं । (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) इन सभी कालों में विद्यमान रहने को नित्यता कहते हैं । एक संख्या से परिमित होने को एकत्व कहते हैं, उन सबों (नित्यत्व आदि धर्मों) को जडत्व आदि के अभाव रूपसे मान लेने पर भी, ज्ञानके धर्मभूत उन (धर्मों) के द्वारा (उक्त हेतुओं में) अनैकान्तिकत्व दोष तो आयेगा ही । यदि (आप कहें—) ज्ञानमें स्वरूप को छोड़कर जड़त्वादि प्रत्यनीकत्व को हम लोग

भाव अथवा अभाव रूप किसी भी प्रकार के धर्म को नहीं स्वीकार करते हैं। तो फिर (नित्यत्वादि के प्रतिपादन द्वारा) जडत्वादि की निषेधोक्तिके द्वारा कुछ भी नहीं कहा जा सकता (अर्थात् ज्ञान के जड़त्वादिके निषेध का प्रयास व्यर्थ ही होगा।)

टिप्पणि—

यदपि नास्या दृशेर्दशिस्वरूपाया– इत्यादि वाक्य के द्वारा अद्वैती विद्वानों का यह कहना है कि अनुभूति ज्ञानमात्र स्वरूप है अतएव इसके कोई दृश्य धर्म नहीं हैं, क्योंकि वे दृश्यहैं। और जो दृश्य (ज्ञान का विषय भूत) है वह ज्ञान का धर्म कैसे हो सकता है ? चूँकि वे दृश्य हैं अतएव वे दृशि ज्ञान के धर्म नहीं हो सकते हैं। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अद्वैती विद्वानों ने स्वयं अपने तर्कों एवं प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया है कि ज्ञान नित्य, स्वयंप्रकाश, एवं एक है। अतएव ये नित्यत्व इत्यादि तो ज्ञानके धर्म ही होंगे। इन धर्मों की स्थिति तो ज्ञान में होगी ही। फलतः उनका दृश्यत्व हेतु पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष तीनों में पाये जाने के कारण अनैकान्तिकत्व नामक हेत्वाभाससे दूषित हो गया "न च ते संवेदन मात्रम् स्वरूपभेदात्"–का आशय यह है कि नित्यत्व आदि को जैसा कि अद्वैती विद्वान् मानते हैं–उसतरह से ज्ञानका स्वरूप मात्र नहीं माना जा सकता है। क्योंकि-ज्ञान,से स्वयंप्रकाशत्व, नित्यत्व, एकत्व आदि धर्मों का स्वरूपतः भेद है। यही नहीं ये स्वयंप्रकाशत्व आदि भी आपस में परस्पर स्वरूपतः भिन्न हैं।

तेषां जडत्वाद्यभावरूपतायामित्यादि— वाक्य का ग्राशय है कि अद्वैती विद्वानोंने ज्ञानके नित्यत्व ग्रादि के प्रतिपादन का प्रयोजन वतलाते हुए कहा है कि नित्यत्व ग्रादि के प्रतिपादनके द्वारा ज्ञान में जडत्व ग्रादि का अभाव वतलाया जाता है। इस पर सिद्धान्ती का यह कहनाहै कि यदि नित्यत्व ग्रादि को जडत्वादि प्रत्यनीकत्व रूप मान लिया जाय तो भी वे जडत्व-प्रत्यनीकत्व ग्रादि ज्ञान के धर्म ही होंगे, फिर भी दृश्यत्व हेतु में अनैकान्तिकत्व दोष ग्रायेगा ही।

इस पर अद्वैती विद्वान् यह कहते हैं कि जडत्वादि प्रत्यनीकत्व को हम अनुभूति का किसी भी प्रकार का भावरूप अथवा अभावरूप धर्म नहीं मानतेहैं,तो इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती का कहना है कि यदि उनको किसी प्रकार का धर्म ग्राप नहीं मानते हैं तो फिर ज्ञान में जडत्वादि के निषेध करने से क्या लाभ हुग्रा ? अर्थात् ग्रापका उक्त प्रयास उन्मत्त के जलताडन-वत् व्यर्थ ही होगा।

❀ ग्रात्मा ज्ञानवान् है ❀

मू०— अपि च संवित् सिद्ध्यति वा न वा ? सिद्ध्यति चेत् सधर्मता स्यात्। न चेत्, तुच्छता, गगनकुसुमादिवत्। सिद्धि- रेव संविदिति चेत्, कस्य कं प्रतीति वक्तव्यम्, यदि न कस्यचित् कंचित् प्रति, सा तर्हि न सिद्धिः। सिद्धिर्हि पुत्रत्वमिव कस्यचित्

कञ्चित् प्रतिभवति । आत्मन इति चेत्, कोऽय-मात्मा ? ननु संविदेवेत्युक्तम् । सत्यमुक्तम्, दुरुक्तं तु तत् । तथा हि—कस्यचित् पुरुषस्य किञ्चिदर्थ-जातं प्रति सिद्धिरूपतया तत्संबन्धिनी सा संवित् स्वयं कथमिवात्मानमनुभवेत् ?

अनुवाद— किञ्च- संवित् की प्रतीति (Proof) होती है, या नहीं? यदि संवित् की प्रतीत होती है, तो फिर उस-में सधर्मता आयेगी (क्योंकि सभी प्रमाणों के विषय सविशेष ही होते हैं, अथवा जिस वस्तु की सिद्धि होती है वह साश्रय होने के कारण सविशेष ही होती है, क्योंकि सिद्धि का अर्थ है प्रकाश । और प्रकाश उसी वस्तु का होता है जो व्यवहारानु-कूल धर्म सम्पन्न होती है । अतएव यदि संवित् की सिद्धि स्वी-कार की गयी तो उसमें सधर्मता होगी ।) यदि उसकी सिद्धि (प्रतीति) नहीं होती है तो फिर वह आकाश पुष्प के समान तुच्छ सिद्ध होगी । (क्योंकि जिसकी प्रतीति नहीं होती है वह आकाश पुष्प के समान तुच्छ होता है । अर्थात् उसकी सत्ता ही नहीं होती है ।] इस पर यदि आप (अद्वैती विद्वान्) यह कहें कि) सिद्धि (प्रकाश) ही संवित् है, (तो यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वह) किसका प्रकाश है? [सिद्धान्ती के इस प्रश्न का आशय संवित् के आश्रय से है] और किसके प्रति प्रकाश है ? (अर्थात् उस प्रकाश का विषय कौन है ?) यह (आपको)

वतलाना चाहिये । (यदि कहें कि) वह किसी का, तथा किसी के प्रति नहीं है, (अर्थात् उसका कोई आश्रय तथा विषय नही है) तो फिर वह सिद्धि ही नहीं हो सकतीहै। क्योंकि सिद्धि (प्रकाश या प्रतीति) पुत्रत्व के समान किसी की होती है तथा किसी के प्रति होती है। (अर्थात् सिद्धि कभी भी आश्रय, विषय विहीन नहीं हुआ करती है।) यदि कहें कि वह आत्मा (Self) की सिद्धि (प्रकाश) है, तो फिर यह आत्मा कौन है? अरे मैंने (अद्वैती विद्वानों ने) कहा तो है कि वह संवित् ही है, हाँ,आपने कहा तो है, किन्तु ऐसा आप नहीं कह सकते हैं। कहने का आशय है कि- किसी (आश्रयभूत) पुरुष की किसी विषय समूह के प्रति प्रकाश रूप होने के कारण उन आश्रय,विषय दोनों से सम्वन्ध रखने वाली वह संवित् स्वयं ही किस तरह से आत्मा हो सकती है ! (क्योंकि वह आत्मा की धर्मभूता [Attribute] है)

मूल- एतदुक्तं भवति- अनुभूतिरिति स्वाश्रयं प्रति स्व सद्भावेनैव कस्यचिद्वस्तुनो व्यवहारानुगुण्यापादन-स्वभावो ज्ञानावगतिसंविदाद्यपरनामा सकर्मकोऽनुभवितुरात्मनो धर्मविशेषो घटमहं जानामि, इममर्थमव गच्छामि, पटमहं संवेद्मि इति सर्वेषामात्मसाक्षिकः प्रसिद्धः। एतत् स्वभावतया हि तस्याः स्वयंप्रकाशता भवताप्युपपादिता। अस्य

सकर्मकस्य कर्तृधर्मविशेषस्य कर्मत्ववत् कर्तृत्वमपि दुर्घटमिति ।'

अनुवाद— कहने का आशय यह है कि- अपने आश्रय के प्रति अपनी सत्तामात्र से ही किसी वस्तु को व्यवहारके अनुकूल बना देना जिसका स्वभावहै, ज्ञान, अवगति, संवित् आदि जिसके दूसरे नामहै,ऐसी अनुभूति सकर्मकहै तथा ज्ञाता आत्मा का एक धर्म विशेष है। 'यह मैं घट को जानताहूँ', 'इस विषय को मैं जानता हूँ', 'मैं पट को जानता हूँ', इत्यादि अनुभवों में वह आत्मा के धर्म रूप से प्रसिद्ध है। इसी स्वभाव के कारण आपके द्वारा भी उसकी (अनुभूति) स्वयंप्रकाशता स्वीकार की गयी है। यह कर्मसे युक्त तथा कर्ता का धर्म विशेष है, अतएव जिस तरह यह आत्मा का कर्म नहीं हो सकती उसी तरह इसका कर्तृत्व प्रतिपादन असम्भव है।

टिप्पणी—

कर्मत्ववत् कर्तृत्वमपिदुर्घटम्— का आशय यह है 'ज्ञा''अवबोधने' धातुसे सिद्ध होने वाला ज्ञान सकर्मक होता है, अतएव स्वयं ज्ञान का कर्म नहीं बन सकता। इस तरह यह कर्ता भी नहीं हो सकता है।। यहाँपर अद्वैती विद्वान् यह कह सकते हैं कि हम तो ज्ञान का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते हैं फिर आपने यह प्रसङ्ग कैसे ला दिया ? तो इसका उत्तर यह है कि आप संवित् को आत्मा तो मानते ही हैं,

और जो आत्मा होगा वह प्रत्यक् अवश्य होगा, ज्ञानाश्रय ही प्रत्यक् होता है, अतएव ज्ञान का ज्ञातृत्व अवश्य स्वीकार करना होगा। क्योंकि आश्रयत्व ही कर्तृत्व कहलाता है, और जो धात्वर्थ का आश्रय होता है। वही कर्ता होता है, अतएव मैंने कहा विज्ञान कर्ता नहीं हो सकता है।

मूल०—तथाहि अस्य कर्तुः स्थिरत्वं कर्तृधर्मस्य संवेदनाख्यस्य सुखदुःखादेरिवोत्पत्तिस्थिति निरोधाश्च प्रत्यक्षमीक्ष्यन्ते। कर्तृस्थैर्यं तावत् स स्वायमर्थः पूर्वं मयानुभूत इति प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष सिद्धम्। अहंजानामि, अहमज्ञासिष, ज्ञातुरेव—ममेदानीं ज्ञानं नष्टमिति च संविदुत्पत्यादयः प्रत्यक्षसिद्ध इति कुतस्तदैक्यम्। एवंक्षणभङ्गिन्याः संविद आत्मत्वाभ्युपगमे पूर्वेद्युर्दृष्टमपरेद्युरिदमहमदर्शमिति प्रत्यभिज्ञा च न घटते, अन्येनानुभूतस्य न ह्यन्येन प्रत्यभिज्ञानसंभवः।

अनुवाद—अद्वैती विद्वान् संवित् को ही आत्मा मानते हैं, और आत्मा मानने के लिए इसको कर्ता (Subject) अवश्य मानना होगा, किन्तु संवित् का कर्तृत्व दुर्घट है, इसी का स्पष्टीकरण प्रस्तुत अनुच्छेद में किया जा रहा है।) वह इस तरह से—इस (ज्ञानाश्रय) कर्ता की स्थिरता तथा कर्ता के ज्ञान नामक धर्म की सुख, दुःख आदि के समान उत्पत्ति स्थिति तथा निरोध (विनाश) प्रत्यक्ष ही देखे

जाते हैं । सर्व प्रथम यह वही [घट आदि] विषय हैं जिनका मैंने पहले अनुभव किया था इस तरह की प्रत्यभिज्ञा (Recognition) रूपी प्रत्यक्ष के द्वारा कर्ता का स्थैर्य सिद्ध होता है । [क्योंकि अतीत काल में जब वस्तु का अनुभव किया गया उस समय भी अनुभव कर्ता आत्मा था और जब कि वर्तमान काल में अतीत कालानुभूत वस्तु का अनुभव किया जा रहा है उस समय भी प्रत्यक्ष कर्ता रूप से वही आत्मा है ।] और मैं जानता हूं, मैंने जाना, तथा पहले मैं जानकार था किन्तु इस समय मेरा ज्ञान नष्ट हो गया है, इत्यादि प्रकार के अनुभवों से ज्ञान की उत्पत्ति आदि की प्रत्यक्षतः सिद्धि होती है, अतएव [दोनों-ज्ञान और आत्मा की] एकता कैसे मानी जा सकती है । इस तरह की क्षण-क्षण में नष्ट होने वाली संवित् को आत्मा मानने पर, पहले दिन देखी गयी वस्तु को दूसरे दिन इसको मैंने देखा था इस तरह की प्रत्यभिज्ञा नहीं सिद्ध हो सकती है, दूसरे के द्वारा अनुभव किये गये पदार्थ का दूसरे के द्वारा प्रत्यभिज्ञान कैसे सभव है ? [कहने का आशय यह कि आप तो आत्मा को ज्ञान मात्र मानते है, वह ज्ञान क्षणभंगुर (Transitory) है । जिस काल में अनुभव किया गया उसी काल में वह नष्ट हो गया, फिर दूसरे समय जब वस्तु का साक्षात्कार हो रहा है, उस समय तो वह आत्मा रहेगी नहीं फलत. वह कैसे अनुभव कर सकती है कि मैंने इसका अनुभव किया । और दूसरे के द्वारा अनुभूत वस्तु का दूसरा कोई स्मरण करे यह कभी संभव नहीं है ।]

मूल०—किञ्च—अनुभूतेरात्मत्वाभ्युपगमे तस्या नित्यत्वेऽपि प्रतिसंधानासंभवस्तदवस्थः । प्रतिसंधानं-हि पूर्वापरकालस्थायिनमनुभवितारमुपस्थापयति, नानुभूतिमात्रम् । अहमेवेदं पूर्वमप्यन्वभूवमिति । भवतोऽप्यनुभूतेर्नह्यनुभवितृत्वमिष्टम् । अनुभूतिरनुभूतिमात्रम् । संविन्नाम काचिन्निराश्रया निर्विषया वा अत्यन्तानुपलब्धेर्नसम्भवतीत्युक्तम् । उभयाभ्युपेता संविदेवात्मेत्युपलब्धि पराहतम् । अनुभूतिमात्रमेव परमार्थ इति निष्कर्षक हेत्वाभासाश्च निराकृताः ।

अनु०—किञ्च-यदि अनुभूति मात्र को आत्मा स्वीकार कर लिया जाय तो, उसके नित्य होने पर उसका [अनुभूति का] प्रतिसन्धान नहीं हो सकता है । क्योंकि प्रतिसन्धान [अनुभूयमान वस्तु के] पूर्वा पर कालमें रहने वाले तथा अनुभव करने वाले व्यक्ति अनुभविता (Knower) कोउपस्थापित (Present) करता है, केवल ज्ञान मात्र (Pure knowledge) को नहीं [जो प्रतिसंधान करने वाला व्यक्ति यह अनुभव करता है कि] मैंने इसका अनुभव किया । आपको भी अनुभूति में अनुभवि तृत्व, [अनुभव करने का गुण] ईप्सित नहीं है । [आपकी] अनुभूति तो ज्ञान मात्र ही है और मैं पहले कह चुका हूँ कि संवित् नाम की कोई ऐसी वस्तु नहीं होती है जो आश्रय, विषय विहीन हो । क्योंकि ऐसी संवित्

की अत्यन्तानुपलब्धि है, (अर्थात् आश्रय, विषयविहीन अनुभूति को किसी ने भी, किसी भी देश तथा काल में नहीं देखा है ।) अद्वैती विद्वानों ने महापूर्व पक्ष में कहा है कि अनुभूति को हम तथा विशिष्टाद्वैती विद्वान् दोनों स्वीकार करते हैं, अतएव उसी को आत्मा मानना चाहिये, (तो उनका यह कथन) उपलब्धि पराहत है । (अर्थात् कहीं भी अनुभूति की आत्मा रूप से उपलब्धि नहीं होती, वह तो आत्मा का धर्म है, धर्मी कैसे हो सकती है । (इस पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि) यद्यपि संवित् साश्रय ही उपलब्ध होती है फिर भी हमने अपने निष्कर्षक हेतुओं के द्वारा महा पूर्व पक्ष में अनुभूति को निर्विशेष सिद्ध किया है । अतएव अनुभूति मात्र ही परमार्थ है, इस तरह के निष्कर्षक हेत्वाभासों का भी खण्डन [हम कर चुके हैं ।]

❀ अहमर्थ का आत्मत्व समर्थन ❀

मूल०—ननु च अहंजानामीत्यस्मत्प्रत्यये योऽनिदमंशः प्रकाशैकरसश्चित्पदार्थः स आत्मा । तस्मिन् तद्बल निर्भासिततया युष्मदर्थलक्षणोऽहं जानामीति सिद्यन्नहमर्थश्चिन्मात्रातिरेकी युष्मदर्थ एव । नैतदेवम्, अहं जानामीति धर्मधर्मितया प्रत्यक्ष प्रतीति विरोधादेव ।

किञ्च—अहमर्थो न चेदात्मा प्रत्यक्त्वं नात्मनो भवेत् ।
अहम्बुद्धया परागर्थात् प्रत्यगर्थो हि भिद्यते ।

निरस्ताखिलदुःखोऽहमनन्तानन्दभाक् स्वराट् ।
भवेयमिति मोक्षार्थी श्रवणादौ प्रवर्तते ।
अहमर्थ विनाशश्चेन्मोक्ष इत्यध्यवस्यति ।
अपसर्पेदसौ मोक्षकथा प्रस्तावगन्धतः ।
मयि नष्टेऽपि मत्तोऽन्या काचिज्ज्ञप्तिरवस्थिता ।
इतितत्प्राप्तये यत्नः कस्यापि न भविष्यति ।
स्व संबन्धितया ह्यस्याः सत्ता विज्ञप्तितादि च ।
स्वसंबन्धवियोगे तु ज्ञप्तिरेव न सिद्ध्यति ।
छेत्तुश्छेद्यस्य चाभावे छेदनादेरसिद्धिवत् ।
अतोहमर्थो ज्ञातैवप्रत्यगात्मेति निश्चितम् ।
विज्ञातारमरेकेन जानात्येवेति च श्रुतिः
एतद्योवेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ' इति च स्मृतिः ।
नात्मश्रुतेरित्यारभ्य सूत्रकारोऽपि वक्ष्यति
ज्ञोऽत एवेत्यतो नात्मा ज्ञप्तिमात्रमिति स्थितम् ।।

अनुवाद—अद्वैती-प्रश्न है कि-'मैं जानता हूं' इस व्यवहार में जो 'अस्मत् प्रत्यय' 'मैं' इस प्रकार के ज्ञान में चित् पदार्थ है, वही आत्मा है, क्योंकि वह इदमश, पराक् अर्थ से भिन्न है। (इस अनुमान में चित् पद ज्ञान का वाचक है, वह ज्ञान स्वयं प्रकाश है, अर्थात् अनन्याधीन प्रकाश होने के कारण प्रत्यक् का वाचक है। उस चित् पदार्थ में ही, ज्ञानाधीन प्रकाशित होने वाला (चिन्मात्राति रेकी होने से) पराक् स्वरूप मैं जानता हूं' इस प्रकार से

प्रतीत होता हुआ अहमर्थ ज्ञानमात्र से भिन्न, युस्मदर्थ ही है। (इस वाक्यमें अद्वैती विद्वानों को संवित् के आत्मत्व सिद्ध्यर्थ तीन व्यतिरे की अनुमान अभिप्रेत हैं, तथा अहमर्थ के अनात्मत्व की सिद्धि हेतु तीन अन्वयी अनुमान अभिप्रेत हैं। वे अनुमान इस प्रकार से हैं—

(१) अनुभूति आत्मा है, क्योंकि वह प्रत्यक् है, जो आत्मा नहीं होता वह, प्रत्यक् नहीं होता है, जैसे घट। अनुभूतिरात्मा, प्रत्यक्त्वात्, यदनात्मा तन्न प्रत्यक्, घटवत्।

(२) अनुभूति प्रत्यक् है, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है जो प्रत्यक् नही होता, वह स्वयंप्रकाश नहीं होता, जैसे घट। अनुभूतिः प्रत्यक् स्वयंप्रकाशत्वात्, यन्न प्रत्यक् तन्न स्वयंप्रकाशः, घटवत्।

(३) अनुभूति स्वयंप्रकाश है क्योंकि वह अनुभूति है, जो स्वयंप्रकाश नहीं होता, वह अनुभूति नहीं होता, घट के समान। अनुभूतिः स्वयंप्रकाशः, अनुभूतित्वात्, यन्न स्वयंप्रकाशः न तदनुभूतिः, घटवत्।

(४) अहमर्थ का प्रकाश ज्ञान के अ ी न होता है, क्योंकि वह चित् से भिन्न है, घट के समान। अनुभूतिज्ञानाधीन प्रकाशः चिद्व्यतिरिक्तत्वात्, घटवत्।

(५) अहमर्थ पराक् है, क्योंकि उसका ज्ञान के अधीन प्रकाश होता है; घट के समान। अहमर्थः पराक् ज्ञानधीन प्रकाशत्वात्, घंटवत्।

(६) अहमर्थ आत्मा नहीं है, क्योंकि यह पराक् है, घटके समान ।
अहमर्थोऽनात्मा, पराक्त्वात्, घटवत् ।

''विशिष्टाद्वैती''— (अद्वैती विद्वानों का) यह कथन उचित नहीं हैं । मैं जानता हूँ, इस ज्ञान में, (ज्ञान) धर्मरूप से तथा अहमर्थ) धर्मीरूप से प्रतीत होताहै, (और अद्वैती विद्वानों के उपर्युक्त कथन का इस) प्रत्यक्ष प्रतीति से विरोध होता है ।

किञ्च— अहमर्थ को यदि आत्मा न माना जाय तो फिर आत्मा का प्रत्यक्त्व नहीं (सिद्ध) होगा क्योंकि 'मैं' 'मैं' इस प्रकार की बुद्धि के ही द्वारा प्रत्यगर्थ का 'यह' यह' इस रूप से प्रतीत होने वाले परागर्थ से भेद होता है ।

मैं समस्त दुःखों से मुक्त होकर आनन्द भाजन एवं स्वराट् (मुक्त) हो जाऊँ, एतदर्थ ही मोक्ष को चाहने वाला व्यक्ति तदुपायभूत श्रवण आदि (मनन, निदिध्यासन) में प्रवृत्त होता है । यदि उसको यह निश्चय हो जाय कि अहमर्थ (आत्मा का, मेरा) विनाश ही मोक्ष है तो फिर वह मोक्ष संबन्धिनी कथा की चर्चा की गन्ध से भी दूर भगेगा । (यदि वह यह जाने कि मुक्तावस्था में) मेरे नष्ट हो जाने पर भी कोई ज्ञप्ति नाम की चीज जो मुझसे अहमर्थ से) भिन्न है वह बची रहेगी, तो फिर उसकी प्राप्ति के लिए कोई भी प्रयास नहीं करेगा । (कहने का आशय यह कि यदि कोई यह जान ले कि मेरे नष्ट हो जानेपर खम्भा तो बचा ही रहेगा, और यह जान कर वह अपना सिर पागलपन में काट ले उसी तरह से उस मुक्ति के लिये किया हुआ

प्रयास होगा जिस मुक्ति में अहमर्थ का नाश होकर केवल ज्ञान-मात्र अवशिष्ट बच जाताहै। दूसरी बात यह कि मोक्षार्थ प्रवृत्ति तो ज्ञानमात्र की होती नहींहै कि वह अहमर्थ की उपेक्षाकर स्वयं मुक्त्यर्थ प्रवृत्त हो, मुक्ति हेतु प्रयास तो अहमर्थ का ही होता है, अतएव वह अपने नाश के लिये क्यों प्रवृत्त होगा ? और किसी का प्रयास न होने के कारण पूरा वेदान्त शास्त्र ही व्यर्थ हो जायेगा।) ज्ञान में सत्ता, विज्ञप्तिता आदि (स्वयंप्रकाशता) का सम्बन्ध ज्ञानाश्रय के सम्बन्ध से हुआ करता है, यदि मुक्ता-वस्थामें ज्ञानाश्रय अहमर्थ का सम्बन्ध ही समाप्त हो जायेगा तो फिर ज्ञान में ज्ञप्ति की सिद्धि होगी हो नहीं। यह उसी तरह से जिस तरह छेद्य (वृक्षादि) एव छेदनकर्ता के विना छेदनक्रिया की सिद्धि नही हो सकतोहै। इसतरह निश्चित होताहै कि ज्ञाता अहमर्थही आत्माहै। इसीअर्थ की पुष्टि निम्नश्रुति स्मृति एवं सूत्र करते हैं, उनमें श्रीभाष्यकार सर्व प्रथम दो श्रुतियों की ओर निर्देश करते हैं- उसमें पहली श्रुति है-) विज्ञातार' इत्यादि अर्थात्- सभी वस्तुओं को विशेष रूप से जानने वाले परमात्मा को किस साधन के द्वारा जाना जाय। (जीव की मुक्तावस्था का वर्णन करते हुये श्रुति उसको ज्ञान गुणवान् बतलाती हुई कहती है-)

जानात्येव— अर्थात् निश्चय रूप से जीव (मुक्तावस्था में भी ज्ञानवान् होने से) जानता है। 'एतद्योवेतितं प्राहुः क्षेत्रज्ञः' यह स्मृति वाक्य भी बतलाता है कि इस क्षेत्राख्य शरीर को जानने वाले को आचार्यों ने क्षेत्रज्ञ कहा है। ब्रह्म सूत्रकार

बादरायण भी नात्माश्रुतेः— (अर्थात् अन्य जड़ वस्तुओं के समान परमात्मा का कार्य होने पर भी आत्मा की उत्पत्ति नहीं होतीहै क्योंकि वह नित्यहै ऐसा 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इत्यादि श्रुतियां बतलाती हैं) इस सूत्र से प्रारम्भ कर (जीव का स्वरूप निरूपण करते हुये बतलायेंगे कि जीव) 'ज्ञोऽत एव' अर्थात् अतएव जीव ज्ञानवान् ही है। अतः निश्चित होता है कि ज्ञान मात्र ही आत्मा नहीं है।

टिप्पणी—

प्रत्यक्त्वम्— जो अपने लिए प्रकाशित होता है उसे प्रत्यक् कहते है, 'स्वस्मै भासमानत्वम् प्रत्यक्त्वम्'। मैं, मैं, इस शब्द मे अभिधीयमान अहमर्थ अपने लिये प्रकाशित होने के कारण प्रत्यक् कहलाता है। पराक्–परस्मै अञ्चतीति पराक्– जो अपने लिए न प्रतीत होकर दूसरे के लिए भासित होता है उसे पराक् कहते हैं। 'यह' 'यह' इस शब्द से अभिधीयमान सभी पदार्थ पराक् कहलाते हैं। अतएव अहम बुद्धि का विषय बनने वाला प्रत्यक् और इदम् बुद्धि का विषय बनने वाला पराक् कहलाता है।

स्वयमेव स्वस्मै राजते इति स्वराट्, मुक्तोजीव इत्यर्थः। आविर्भूत गुणाष्टक मुक्तावस्थ जीव स्वयं अपने लिये प्रकाशित होता है, उस समय वह सत्यकाम और सत्यसंकल्प हो जाताहै। छान्दोग्योपनिषद् के आठवें अध्याय में मुक्तावस्थ जीव को स्वराट् कहा गया है। सत्ताविज्ञप्तिता–ज्ञान की जो सामान्यावस्था उसको सत्ता कहलाती है और जिस आकार से ज्ञान विषयों का प्रकाशन किया करता है उसे उसकी विज्ञप्तिता कहते हैं।

मूल– अहंप्रत्ययसिद्धोह्यस्मदर्थः । युष्मत् प्रत्ययविषयो-युष्मदर्थः । तत्रहि जानामिति सिद्धो ज्ञाता युष्म-दर्थ इति वचनं जननी मे बन्ध्येतिवत् व्याहृ–तार्थञ्च । न चासौ ज्ञाता अहमर्थोऽन्याधीनप्रकाशः, स्वयम्प्रकाशत्वात् । चैतन्यस्वभावताहि स्वयम्प्रका-शता । यः स्वयम्प्रकाशस्वभावः सोऽनन्याधीन–प्रकाशः दीपवत् । नहि दीपादेः स्वबलनिर्भासित-त्वेनाप्रकाशत्वयन्याधीनप्रकाशत्वञ्च, किं तर्हि ? दीपः प्रकाश स्वभावः स्वयमेव प्रकाशते । अन्या-नपि प्रकाशयति स्वप्रभया ।

अनुवाद — किञ्च– अस्मत् प्रत्यय (मैं मैं इस प्रकार के ज्ञान में स्वयं प्रकाशित होने वाला ज्ञाता ही अस्मदर्थ कह-लाता है, और युस्मत् प्रत्यय (यह, यह, इस प्रकार के ज्ञान) का विषय वनने वाला ही युष्मदर्थ कहलाताहै । इनमें मैं जानता हूँ, इस प्रकार के ज्ञान से सिद्ध होने वाला ज्ञाता युष्मदर्थ है, इसप्रकार की अद्वैतीविद्वानों की बातें उसी तरह व्याहत हैं जिस तरह यह कहना कि मेरी मां बंध्याहै । क्योंकि इस ज्ञाता अहमर्थ का प्रकाश(प्रतीति) दूसरे के अधीन नहीं होताहै,क्योंकि वह स्वय-प्रकाशहै । ज्ञान गुणकताको ही स्वयंप्रकाशता कहते हैं । जिसका स्वभाव (गुण) प्रकाश होता है, उसका प्रकाश स्वाधीन होता है (अर्थात् उसे अपने प्रकाश के लिए प्रकाशकान्तर की आवश्य-कता नहीं होती है । चूँकि दीपक आदि अपने प्रभारूपी सामर्थ्य

मे प्रकाशित होते हैं, अतएव वे अप्रकाशित नहीं रहते तथा उनका प्रकाश किसी के अधीन नहीं होता है। (इस पर यदि आप पूछें कि) तब फिर क्या होता है, तो दीप का प्रकाश स्वभाव (अपृथक सिद्ध विशेषण) है और वह (दीप) स्वयं ही प्रकाशित होता है। और स्वेतर स्वविषयभूत पदार्थों को भी अपनी प्रभा से प्रकाशित करता है।

टिप्पणी—

चैतन्य स्वभावता हि स्वयंप्रकाशता— चेतना ज्ञान को कहते हैं, चेतना का भाव चैतन्य (ज्ञानत्व) है। ज्ञानत्व ही ज्ञान का स्वयं प्रकाशत्व है। यः प्रकाशस्वभावः—यहाँ आत्मा के धर्मभूत ज्ञान, तथा दीपक की प्रभा की जिस तरह की व्यवहारानुगुण्यता होती है, उसी तरह की व्यवहारानुगुण्यता को ही यहाँ प्रकाश शब्द से कहा गया है। दीप का प्रकाश तमोविरोधीप्रकाश रूप है, तथा ज्ञान का प्रकाश स्फुरण रूप होता है।

सो अनन्याधीन प्रकाशः- का अर्थ है स्वधर्म की अपेक्षा किये बिना प्रकाशित होते रहना।

मूल-- एतदुक्तं भवति- यथैकमेव तेजोद्रव्यं प्रभाप्रभावद्रूपेणावतिष्ठते। यद्यपि प्रभा प्रभावद्द्रव्यगुणभूता, तथापि तेजोद्रव्यमेव, न शौक्ल्यादिवद्गुणः स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्तमानत्वात्, रूपवत्वाच्च। शौक्ल्यादिधर्मवैधर्म्यात् प्रकाशवत्त्वाच्च-तेजोद्रव्यमेव नार्थान्तरम्। प्रकाशवत्त्वञ्च स्वस्वरूपस्यान्येषाञ्च

प्रकाशकत्वात् । अस्यास्तु गुणत्वव्यवहारो नित्य--तदाश्रयत्व-तच्छेषत्व-निबन्धनः ।

अनु०— कहने का आशय है कि-- जैसे (दीपगत) एक ही तेजोद्रव्य (दीपक की) प्रभा और प्रभावान् (दीपक) इन दोनों रूपों में पाया जाता है । यद्यपि प्रभा (कान्ति) प्रभावान् (दीपक सूर्य आदि) का गुणभूत है फिर भी वह तेजोद्रव्य ही है, (गो-आदि में पाये जाने वाले) शुक्लिमा आदि के समान [केवल] गुण नहीं । क्योंकि उसकी सत्ता प्रभावद् द्रव्य से भिन्न स्थल में भी पायी जाती है, तथा रूपवान् होती है । [कहने का आशय यह है कि जो जिसका गुण होता है वह उसके साथ अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध से सम्बद्ध होने के कारण गुणी से दूर नहीं होता किन्तु सूर्य एवं दीप की प्रभा तो दीपक से भिन्न स्थल में भी पायी जाती है भिन्न स्थलों में रह कर वह घटादि का प्रकाशन किया करती है । दूसरी बात यह कि गुणोंमें गुणान्तर का अभाव हुआ करता है, किन्तु सूर्य की प्रभा में शुक्लता पायी जाती है । अतएव प्रभा को प्रभावान् का धर्म मानते हुये भी उसको तेजो द्रव्य भी माना जाता । प्रभा को प्रभावद् द्रव्य का गुण इसलिए माना जाताहै कि वह उसके साथ ही नियत रूप से पाया जाता है, ऐसा कभी नही होता कि प्रभावान् द्रव्य न हो किन्तु प्रभा पायी जाय । प्रभावान् द्रव्य के साथ-साथ पाये जाने के कारण उसे गुण भी माना जाता है ।) शौक्ल्य आदि धर्मों से भिन्नता तथा प्रकाशवत्ता पाये जाने के कारण प्रभा तेजो द्रव्य ही है, उससे भिन्न वस्तु नहीं । प्रभा में

प्रकाशवत्ता इसलिए मानी जाती है कि—वह अपने स्वरूप का प्रकाशन करती हुई अन्य (प्रकाश्य घटादि वस्तुओं) का भी प्रकाशन किया करती है। और इसको प्रभावद्द्रव्य का गुण इसलिए माना जाता है कि- वह सदा तेजोद्रव्य के अधीन एवं उसके (तेजोद्रव्य के) आश्रित रहा करती है।

मूल— नचाश्रयावयवा एव विशीर्णाः प्रचरन्तः प्रभेत्युच्यन्ते, मणिद्युमणिप्रभृतीनां विनाशप्रसङ्गात्। दीपेप्यवयवी प्रतिपत्तिः कदाचिदपि न स्यात्, नहि विशरणस्वभावावयवादीपाः चतुरङ्गुलमात्रनियमेन पिण्डीभूता उर्ध्वमुद्गम्य ततः पश्चाद् युगपदेव तिर्यगुर्ध्वमधश्चैकरूपा विशीर्णाः प्रचरन्तीति शक्यं वक्तुम्। अतः सप्रभाका एव दीपाः प्रतिक्षणमुत्पन्ना विनश्यन्तीति—पुष्कलकारणक्रमोपनिपातात् तद्विनाशेविनाशाच्चावगम्यते। प्रभायाः स्वाश्रयसमीपे प्रकाशाधिक्यम् औष्ण्याधिक्यमित्युपलब्धिव्यवस्थाप्यम्, अग्न्यादिनामौष्ण्यादिवत्-एवमात्मा चिद्रूप एव चैतन्यगुण इति। चिद्रूपता हि स्वयंप्रकाशता।

अनुवाद— यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि—आश्रय (दीपक) के ही अवयव, टूट कर इधर उधर चलते हुए प्रभा कहलाते हैं, (क्योंकि ऐसा माननेपर तेजोद्रव्य) मणि,द्युमणि

(सूर्य) आदि के विनाश का प्रसङ्ग होगा। [कहने का आशय-यह है कि यदि तेजोद्रव्य की टूट कर गतिशील अवयव ही प्रभा होगी तो फिर एक दिन सूर्य एवं मणि के भी विनाश का प्रसङ्ग होगा। और दीपक में भी कभी अवयवी का ज्ञान नहीं हो सकता है। यह नहीं कहा जा सकता है कि-विशरण (टूटना) ही जिनका स्वभावहै, ऐसे अवयव वाले दीपक घनीभूत होकर नियमतः चार अंगुल ऊपर उठकर, उसके पश्चात् समकाल में ही टूटकर समान रूप से तिर्छा, ऊपर, नीचे आदि चारों तरफ (प्रभारूप में) फैल जाते हैं। अतएव (यही मानना चाहिये कि) प्रभा से युक्त हो दीपक प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते हैं, ऐसा (अनुमान द्वारा) ज्ञात होता है, (क्योंकि जब तक पुष्कल (मात्रा में) कारण परम्परा बनी रहती है, तब तक दीपक स्थापित रहता है, और जब वह कारण सामग्री समाप्त हो जाती है तब दीपक भी नष्ट हो जाताहै। प्रभा का अपने आश्रयके सन्निकटमें अधिक प्रकाश और उसकी अधिक उष्णता रहतीहै (इत्यादि अर्थों की व्यवस्था उपलब्धिके अनुसार ही करना चाहिये) अत एव प्रभा में उसी तरह की उष्णता होतीहै जिसतरह की उष्णता अग्नि में होती है। इसी तरह आत्मा भी चिद्रूप [ज्ञानस्वरूप] है और उसका गुण चैतन्य है। और चिद्रूपता ही स्वयंप्रकाशता कहलाती है।

मूल०— तथाहि श्रुतयः-- "स यथा सैन्धवघनोऽनन्त--रोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव, एवं वा अरेऽय–

मात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव । एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः (बृ० ४।५।१३) 'विज्ञानघन एव (बृ०२।४।१२) 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृ०४।३।९) 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते ।' (बृ०४-३।३०) 'अथ योवेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा ।-(छ०।७।१२।४) 'कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः (बृ०४।३।७) एष हि द्रष्टाश्रोता रसयि..ा घ्राता, मन्ता, बोद्धा-कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (प्र०४।९) 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ।' (बृ० २।४।१४) 'जानात्ये-वायं पुरुषः । न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगंनोत-दुःखताम्'(छा० ७।२६।२) 'स उत्तमः पुरुषः नोप-जनं स्मरन्निदं शरीरम्' (छा० ८।१२।३) 'एवमे-वास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडेशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' (प्र० ६।५) 'तस्माद्वा-एतस्मान्मनोमयात् अन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः' (तै० २।४।१) इत्याद्याः । वक्ष्यति च 'ज्ञोऽत एव' (ब्र० सू० २।३।१९) इति । अतः स्वयं प्रकाशोऽय-मात्मा ज्ञातैव, न प्रकाश मात्रम् । प्रकाशत्वादेव कस्यचिदेव भवेत् प्रकाशः । प्रदीपादि प्रकाशवत् ।

तस्मान्नात्मा भयितुमर्हति संवित् । संविदनुभूति-ज्ञानादिशब्दाः संबन्धि शब्दाः इति च शब्दविदः । न हिलोकवेदयोर्जानात्यादेरकर्मकस्य, अकर्त्तृकस्य च प्रयोगोदृष्टचरः ।

अनु०– 'ऊपर यह वतलाया गया है कि आत्मा का गुण है ज्ञान, ज्ञानमात्र ही आत्मा नहीं हो सकता है । अब उपर्युक्त कथनमें सिद्धान्ती प्रमाणों को उपस्थित करते हुये कहते हैं निम्न श्रुतियाँ आत्मा को ज्ञानवान् वतलाती है । वे हैं-- जिस तरह प्रसिद्ध नमक का टुकड़ा अन्तरङ्ग वहिरङ्ग रहित सम्पूर्ण रसघन (नमक का टुकड़ा ही मात्र है) उसका कोई भी अंश नमक से भिन्न नहीं है) उसी तरह अरे मैत्रेयी यह आत्मा भीतर वाह्य सर्वत्र ज्ञानस्वरूप ही है । [यहां पर अनन्तर शब्द धर्मी का वाचक है, तथा अवाह्य शब्द धर्म का वाचक है। इस श्रुतिमें ज्ञानस्वरूप आत्मा का स्वभाव ज्ञानवान् वतलाया गया है ।] यह आत्मा विज्ञानघन ही है । 'इस स्वप्नावस्था में जीव वाह्यज्योति निरपेक्ष वन जाता है । [और स्वयं स्वापकालिक विषयों का अनुभव किया करता है ।] [स्वापकाल में] विज्ञानवान् आत्मा के विज्ञान का विनाश नहीं होता है ।" और जो यह जानता है कि मैं इसको सूंघ रहा हूँ, वही आत्मा है । [स्वापकालमें इन्द्रियों के अस्तमित हो जाने पर भी स्वप्न का दर्शन करने वाला] आत्मा कौन है? जनक के इस प्रश्न का उत्तर देते हुये याज्ञवल्क्य कहते हैं]

जो यह विज्ञान प्रचुर प्राणों तथा हृदयके भीतर [रहकर] प्रकाश स्वरूप है, वही पुरुष (आत्मा) है। यह प्रत्यगात्मा ही, देखने-वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, सूंघने वाला, आस्वाद लेने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला, करने वाला तथा विज्ञान स्वरूप पुरुष है। अरे (मैत्रेयी) विज्ञानवान् आत्मा को किस स्वतन्त्र साधन के द्वारा विशेष रूप से जाने ?' यह आत्मा ज्ञानवान् ही है। ब्रह्मदर्शी मृत्यु, दुःख के साधन भूत रोग तथा जगत की प्रतिकूलता का अनुभव नहीं करताहै। वह (उपसम्पद-नीय) उत्तम पुरुष, अनेक योनियों को ग्रहण करने वाले शरीर को (अथवा बांधवों के सन्निकट में पड़े हुये इस मृत शरीर को) नहीं स्मरण करता है। (जिस तरह बहने वाली नदियाँ समुद्र में मिलकर समुद्ररूप हो जाती हैं) उसी तरह इस भोक्ता (परिद्रष्टा) जीव की भोगोपकरणभूत सोलहो कलाएँ परमात्मा को प्राप्त हो-कर भोगाश्रयिका नहीं रह जाती हैं। निश्चय ही प्रसिद्ध इस मनःप्रचुर से भिन्न उसके भीतर रहने वाली आत्मा है जो विज्ञान प्रचुर है। इत्यादि (श्रुतियाँ आत्मा को ज्ञानवान् बतलाती हैं, ज्ञानमात्र नहीं।) (स्वयं सूत्रकार भी आगे चल कर) कहेंगे कि अतएव आत्मा ज्ञानवान् ही है। अतएव यह स्वयंप्रकाश आत्मा ज्ञानवान् ही है ज्ञानमात्र नहीं। प्रकाश स्वरूप ही होने के कारण (ज्ञान) किसी (आश्रयभूत जीव) का ही प्रकाश हो सकता है, प्रदीप आदि के प्रकाशके समान। अतएव संवित् आत्मा नहीं हो सकती है (क्योंकि वह आत्मा का धर्म है) और शब्दशास्त्र के जानकारों का कहना है कि- संवित्,अनुभूति,ज्ञान आदि शब्द

पर्यायवाची हैं। लोक तथा वेद में कहीं भी (अब तक) आश्रय (कर्ता) एवं विषय [कर्म] से हीन ज्ञाधातु का प्रयोग नहीं देखा गया है। [अपितु सर्वत्र ज्ञा धातु का सकर्तृक एवं सकर्मक ही प्रयोग देखा जाता है।

अजडत्व हेतु के द्वारा संवित् का आत्मत्व नहीं सिद्ध हो सकता है।

मू०— यच्चोक्तम्-- अजडत्वात् संविदेवात्मेति, तत्रेदं प्रष्टव्यम्, अजडत्वमिति किमभिप्रेतम् ? स्वसत्ता प्रयुक्त प्रकाशत्वमिति चेत्, तथा सति दीपादिष्व-नैकान्त्यम्, संविदतिरिक्त प्रकाशधर्मानभ्युपगमेना-सिद्धिर्विरोधश्च। अव्यभिचरितप्रकाशसत्ताकत्व--मपि सुखादिषु व्यभिचारान्निरस्तम्। यद्युच्येत। सुखादिरव्यभिचरित प्रकाशोऽप्यात्मस्मै प्रकाशमान-तया घटादिवज्जडत्वेनानात्मेति, ज्ञानं वा किं स्व-स्मै प्रकाशते ? तदपि ह्यन्यस्यैवाहमर्थस्य ज्ञातुरव-भासते, अहं सुखीति वज्जानाम्यहमिति, अतः स्व-स्मै प्रकाशमानत्वरूप जडत्वं संविद्यसिद्धम्, तस्-मात् स्वात्मानं प्रति स्वसत्तयैव सिध्यन्नजडोऽह-मर्थ एवात्मा।

अनुवाद— अद्वैती विद्वानों ने महापूर्व पक्ष में संवित् का आत्मत्व सिद्ध करते हुये कहा था कि–संवित् ही आत्मा है, क्यों-

कि वह अजड़ है, जो अजड़ नहीं होता वह आत्मा भी नहीं होता है जैसे–घट आदि। उस अनुमान में हेत्वाभास प्रदर्शित करते हुये सिद्धान्ती कहते हैं] यह जो (अद्वैती विद्वानों द्वारा) कहा गया है कि अजड़ होने के कारण संवित् (ज्ञान) ही आत्मा है, तो उसके विषय में मुझे यह पूछना है कि– अजडत्व से आपको क्या अभिप्रेत है? (अर्थात् आप संवित् के अजडत्व का स्वरूप क्या मानते हैं?) यदि अपनी सत्ता (विद्यमानता) के द्वारा ही प्रकाशित होते रहना अजडत्व है– माने तो ऐसा मानने पर तो फिर यह अजडत्व दीपक आदि में अनैकान्तिक होगा। (अर्थात् दीपक आदि (सूर्य मणि) भी अपनी सत्ता से प्रकाशित होते रहते है। ऐसा कभी नहीं होता कि दीप आदि रहें और वे प्रकाशित न हों।) अतएव यहाँ पर पक्ष सपक्ष एव विपक्षमें सत्ता रूप साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास होगा। क्योंकि यह अजडत्व आत्मा भूत संवित् और अनात्मा दीपक आदि में भी पाया जाता है, अतएव हेतु यहाँ दूषित हो गया।) और अद्वैत सिद्धान्तमें संवित् से अतिरिक्त प्रकाशनामक धर्म नहीं स्वीकार कियेजाने के कारण (उक्त प्रकार के अजडत्व की) सिद्धि ही नहीं हो सकती है। (क्योंकि प्रकाश नामक धर्म संवित् में स्वीकार किये जाने पर हो संवित् का स्वसत्ता प्रयुक्त प्रकाशत्व (रूप अजडत्व स्वीकार किया जा सकता है) (यदि संवित् में उस प्रकाश को स्वीकारकर लिया जाय तो फिर अद्वैत सिद्धान्त की मान्यताओं से) विरोध होगा। यदि कहें विद्यमानावस्था में प्रकाश का अभाव न होना (ही संवित् का अजडत्व है) तो अजडत्व का यह लक्षण भी

सुख आदि (दुख) में अति व्याप्त होगा, [क्योंकि ऐसा कभी नहीं होता कि सुख आदि रहें किन्तु उनकी प्रतीति न हो अतएव यह भी अजडत्व का लक्षण व्यभिचार युक्त होने के कारण दूषित हो गया। यदि आप कहें कि– यद्यपि सुख आदि का प्रकाश विद्यमानावस्था में होता ही रहता है फिर भी, वे दूसरे के लिए प्रकाशित होते रहने के कारण,घट आदि के समान जड़ होने के कारण अनात्मा [आत्मा से भिन्न] हैं। [तो मैं पूछता हूँ कि] क्या ज्ञान अपने लिए प्रकाशित होता है ? वह भी अपने से भिन्न ज्ञाता अहमर्थ के ही लिए प्रकाशित होता है। 'मैं सुखी हूँ', इस प्रतीति के ही समान 'मैं जानता हूँ' इस प्रतीति में भी ज्ञान का आश्रय अहमर्थ ही प्रतीत होता है। अतएव अपने लिए प्रकाशित होना रूप अजड़त्व संवित् में नहीं सिद्ध हो सकता है। अपने लिए अपनी सत्ता से ही प्रकाशित होने वाला अजड़ अहमर्थ है। आत्मा है। और ज्ञान की भी प्रकाशता [किसी वस्तु को व्यवहार के योग्य बना देने की शक्ति] अहमर्थ के सम्बन्ध के कारण है, अहमर्थ से सम्बन्ध ही होने के कारण ज्ञान अपने आश्रयभूत चेतन के प्रति प्रकट रहता है, और तदितर चेतनों के प्रति अप्रकट रहता है। [अर्थात् जिस आत्मा को ज्ञान होता है वही अपने ज्ञान का अनुभव करता है दूसरे चेतन तो उसके उस ज्ञान का हानोपादानादि लिङ्ग के द्वारा अनुमानमात्र कर सकते हैं।] अतएव ज्ञानमात्र ही आत्मा य होकर ज्ञाता अहमर्थ ही आत्मा है।

—:※:—

❀ अनुभूति में ज्ञातृत्व अध्यस्त नहीं है ❀

मू०— अथ यदुक्तमनुभूतिः परमार्थतो निर्विषया निराश्रया च सती भ्रान्त्या ज्ञातृतयावभासते रजततयेव शुक्तिनिरधिष्ठानभ्रमानुपपत्तेरिति। तदयुक्तम्—तथासत्यनुभव सामानाधिकरण्येनानुभवितोऽहमर्थः प्रतीयेत, अनुभूतिरहमिति पुरोवस्थितभास्वरद्रव्याकारतया रजतादिरिव। अत्र तु पृथगवभासमानैवेयमनुभूतिरर्थान्तरमहमर्थं विशिनष्टि दण्डइव देवदत्तम्, तथाह्यनुभवाम्यहमिति प्रतीतिः। तदेवमस्मदर्थमनुभूति विशिष्टं प्रकाशयन्ननुभवाम्यहमिति प्रत्ययो दण्डमात्रे दण्डीदेवदत्त इति प्रत्ययवद् विशेषणभूतानुभूतिमात्रावलम्बनः कथमिव प्रतिज्ञायेत ?

अनु०— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि- अनुभूति का न तो कोई आश्रय है और न कोई विषय है, फिर भी भ्रम के कारण वह ज्ञातारूप से प्रतीत होती है (आश्रय विषय रहित अनुभूति में ज्ञातृत्व की अनुभूति उसी प्रकार भ्रम जन्य है जिस प्रकार सीपी में रजत (चाँदी) की प्रतीति भ्रम जन्य है। क्योंकि अनुभूति व्यतिरिक्त सम्पूर्ण प्रपञ्च मिथ्या है, अतएव ज्ञातृत्व इत्यादि भी मिथ्या ही हैं। अब यहांपर प्रश्न यह उठता

संवित् भी मिथ्या ही होगी तो इसका उत्तर है कि) भ्रम की सिद्धि के लिये किसी अधिष्ठान का होना जरूरी है। और जो अधिष्ठान होताहै वह सत्य होताहै। जैसे सत्य सीपीमें ही मिथ्या (भ्रान्ति जन्य) रजत की प्रतीति होती है। उसी तरह अधिष्ठान रूप से विद्यमान सत्य संवित् में ज्ञातृत्व की प्रतीति होती है। (जिस तरह रजतादि भ्रमके लिये सत्य अधिष्ठान अपेक्षित होता है उसी तरह सत्य संवित् रूप अधिष्ठानमें मिथ्या रजत का भ्रम होता है।) अधिष्ठान के बिना भ्रम की सिद्धि नहीं हो सकती है। तो अद्वैती विद्वानों का यह कथन उचित नहीं है।

तथा सतीत्यादि— क्योंकि वैसा मानने पर अनुभव के सामानाधिकरण्य रूप से अनुभव करने वाले अहमर्थ की प्रतीति होती और मैं अनुभव करता हूँ इस प्रकार की प्रतीति न होकर 'मैं अनुभव हूँ' इस प्रकार से प्रतीति होती। यह प्रतीति उसी प्रकार की होती जिस प्रकार, सामने दिखाई पड़ने वाला चमकता हुआ द्रव्य (सीपी) जिसमें रजत का भ्रम होता है, उसमें सामानाधिकरण्येन प्रतीति होती है। 'यह' 'यह' शब्द से निर्दिष्ट आगे पड़ी हुई सीपी और रजत में अभेद की प्रतीति होती है, दोनों में धर्म धर्मी भाव की प्रतीति नहीं होती।

अत्र तु० इत्यादि— और मैं अनुभव करता हूँ इत्यादि अनुभवों में अनुभूति अहमर्थ से अलग प्रतीत होती हुई यह अहमर्थ को उसी तरह से अपने भिन्न सिद्धि करती है, जिस तरह (दण्डी देवदत्तः इत्यादि प्रतीतियों में) दण्ड देवदत्त को अपने से भिन्न

सिद्ध करता है। इसी तरह मैं अनुभव करता हूँ यह अनुभव भी (अहमर्थ को अनुभूति से अलग सिद्ध करता है।)

तदेवमित्यादि— इस तरह से, अनुभूति (ज्ञान) से विशिष्ट रूप से अहमर्थ को प्रकाशित करता हुआ, मैं अनुभव करता हूं, इस प्रकार का ज्ञान केवल अनुभूति मात्र पर ही अवलम्बित है, यह कैसे प्रतिज्ञा की जा सकती है ? (यह तो कहना उसी प्रकार से अनुपपन्न है जिस तरह से कोई यह कहे कि) 'दण्डी देवदत्त है' यह प्रतीति केवल दण्डमात्रपर ही आधारितहै। अहमनुभवामि इस प्रतीति में अनुभव की धर्म रूप से तथा अहमर्थ की धर्मीरूप से प्रतीति होती है। इस विशेषण विशेष्यभाव रूप से प्रतीति को अध्यास कैसे माना जा सकताहै। अध्यासमें अभेद प्रतीति ही होतीहै। जैसे रस्सी और सर्प में, सीपी और रजतमे। अतएव मैं अनुभव करता हूं इस प्रकार की प्रतीति में ज्ञातृत्वको अध्यास रूप नहीं माना जा सकता है।

मूल-- यदप्युक्तम्-- स्थूलोऽहमित्यादि देहात्माभिमानवत एव ज्ञातृत्वप्रतिभासनात् ज्ञातृत्वमपि मिथ्येति। तदयुक्तम्-आत्मतया अभिमताया अनुभूतेरपि मिथ्यात्वं स्यात्, तद्वत एव प्रतीतेः। सकलेतरोपमर्दितत्व ज्ञानाबाधितत्वेनानुभूतेर्न मिथ्यात्वमिति चेत्, हन्तैवं सति तदबाधादेव ज्ञातृत्वमपि न मिथ्या

अनु०— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि — 'मैं मोटा हूँ' मैं दुवला हूँ' इत्यादि रूपसे जिनको दुवला मोटा होने वाले

शरीर में ही आत्मा का अभिमान हो गया है, उन लोगों को ही ज्ञातृत्व की प्रतीति होती है। (अतएव जिस तरह उनका शरीर में आत्मा का अभिमान मिथ्या है उसी तरह से उनके) ज्ञातृत्व की प्रतीति भी मिथ्या है। "तदयुक्तम् इत्यादि"— तो अद्वैती विद्वानों का यह कथन उचित नही है। क्योंकि (अद्वैती विद्वानों को) आत्मारूप से अभिमत अनुभूति के भी मिथ्यात्व का प्रसङ्ग होगा। अनुभूति की भी आत्मारूप से प्रतीति उन्हीं लोगों को ही होती है, जिनको देहात्माभिमान होता है।

सकलेतरोपमर्दित्वेत्यादि०-इस पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि अनुभूति मिथ्या नहीं है क्योंकि वह स्वेतर समस्त प्रतीतियों का वाधकहै, जो स्वेतर समस्त प्रतीतियों का वाधक होता है, वह मिथ्या नहीं होता है, जो वाध्य होताहै वही मिथ्या होता है। अनुभूति व्यतिरिक्त समस्त प्रतीतियों का वाध होने से वे अनुभूति के वाध्यभूत हैं, अतएव मिथ्या हैं। किञ्च अनुभूति इसलिए भी मिथ्या नहीं है कि वह ज्ञान के द्वारा वाध्य नही है। जो ज्ञान के द्वारा वाधित होता है वही मिथ्या होता है, जैसे रज्जु सर्प। यहां पर अद्वैती विद्वानों को दो अनुमान अभिप्रेत हैं—

(१) अनुभूतिः सती, सकलोपमिर्दित्वात्, यन्नैव तन्नैवं रज्जु-सर्पादौ रज्ज्वादिवत्।

(२)अनुभूतिः सती,ज्ञानावाध्यत्वात्, रज्जुसर्पादौ रज्ज्वादिवत्।

हन्तैवमित्यादि— अद्वैती विद्वानों के उपर्युक्त कथन का खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कहते हैं- यदि ऐसी वात है तो फिर

ज्ञातृत्व का भी बाध न होने के कारण ज्ञातृत्व भी मिथ्या नहींहै। क्योंकि मुक्तावस्था में ज्ञातृत्व की सिद्धि छान्दोग्य श्रुति करतीहै।

॥ अहङ्कार के ज्ञातृत्व का खण्डन ॥

मू०— यदप्युक्तम्-अविक्रियस्यात्मनो ज्ञानक्रियाकर्तृत्व-रूपं ज्ञातृत्वं न सम्भवति, अतो ज्ञातृत्वं विक्रियात्मकं जडं विकारास्पदाव्यक्तपरिणामाहङ्कारग्रन्थिस्थमिति न ज्ञातृत्वमात्मनः, अपित्वन्तःकरणरूपस्याहङ्कारस्य, कर्तृत्वादिर्हि रूपादिवद् दृश्यधर्मः, कर्तृत्वेऽहम्प्रत्ययगोचरत्वे चात्मनोऽभ्युपगम्यमाने देहस्येवानात्मत्व पराक्त्व जडत्वादिप्रसङ्गश्चेति। नैतदुपपद्यते—देहस्येवाचेतनत्व—प्रकृति—परिणामत्व-दृश्यत्व-पराक्त्व परार्थत्वादि योगादन्तः करणरूपस्याहङ्कारस्य,चेतनासाधारणस्वभावत्वाच्च ज्ञातृत्वस्य।

अनु०— अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि– आत्मा विकार रहित है, अतएव उसका धर्म ज्ञातृत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञातृत्व ज्ञानरूपी क्रिया का कर्तृत्व स्वरूप है। (यदि-यह ज्ञातृत्व आत्मा का धर्म मान लिया जायेगा तो फिर आत्मामें विकार आ ही जायेगा। इस पर यदि कोई यह पूछे कि तो फिर ज्ञातृत्व किसका धर्म है तो इसका उत्तर देते हुये अद्वैती विद्वान्

कहते हैं कि- "अतो ज्ञातृत्वमित्यादि"-अर्थात्-) अतएव विकार स्वरूप जड़ ज्ञातृत्व प्रकृति के परिणामभूत अहंकार की ग्रन्थि में रहने वाला धर्म है ज्ञातृत्व आत्मा का धर्म नहीं है । बल्कि वह अन्तःकरण रूप अहंकार के धर्म है किञ्च- कर्तृत्व आदि दृश्य-वस्तु के धर्म हैं, क्योंकि वे दृश्य हैं [अर्थात् ज्ञान के विषय बनते हैं] रूप आदि के समान । (जिस तरह रूप आदि दृश्यधर्म दृश्य घटादि के धर्म होते हैं, उसीतरह से कर्तृत्व आदि दृश्यधर्म दृश्य अन्तःकरण के ही धर्म हैं ।) "कर्तृत्वे इत्यादि"- यदि कर्तृत्व और 'मैं' 'मैं' इस प्रकार की बुद्धि का विषयत्व को आत्मा का धर्म मान लिया जाय तो फिर आत्मा भी देह के समान, आत्मासे भिन्न, पराक् एव जड़ सिद्ध हो जायेगी । (यहाँ पर ये अनुमान अभिप्रेत हैं-

(१) आत्मा अनात्मा कर्तृत्वात्, देहवत्, आत्मा अनात्मा है, क्योंकि वह कर्ता है, देह के समान ।

(२) आत्मा पराक्, अनात्मत्वात्, देहवत । अर्थात् आत्मा परार्थ है, क्योंकि वह अनात्मा है, देह के समान ।

(३) आत्मा जड़ः पराक्त्वात्, देहवत् । अर्थात् आत्मा जड़ है, क्योंकि वह परार्थ है, देह के समान ।)

नैतदुपपद्यते- अद्वैती विद्वानों का उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि अन्तःकरणरूप अहंकार देह के ही समान अचेतन, प्रकृति का परिणाम, दृश्य, पराक्, पदार्थ, आदि धर्मों से युक्त है और ज्ञातृत्व चेतन का असाधारण धर्म है, (अर्थात् वह केवल चेतन वस्तुओं में ही पाया जाता है, अचेतन में नहीं, अतएव अचेतन

अहंकार का धर्म कैसे हो सकता है ? (यहाँ पर सिद्धान्ती को इस प्रकार का अनुमान अभिप्रेत है–

अन्तःकरणं न ज्ञातृ, अचेतनत्वात्, प्रकृतिपरिणामत्वात्, दृश्यत्वात्, पराक्त्वात् परार्थत्वाच्च, देहवत् ।

अर्थात् अन्तःकरण ज्ञाता नहीं है, क्योंकि वह देह के ही समान अचेतन है, प्रकृति का कार्य है, ज्ञानान्तर के द्वारा प्रकाश्य है, पराक् है (अर्थात् अपने आश्रय के लिए प्रकाशित होता है) परार्थ है– (अपने से भिन्न अपने आश्रय के प्रयोजनों की सिद्धि करता है) देह के समान । इस अनुमान में अहंकार को अचेतन कहने का अभिप्राय उसे अनात्मा बतलानाहै; पुरुषार्थों को प्राप्त करने वाला तथा देह के भीतर प्रवेश करके उसका नियमन करने वाला ही आत्मा है । इससे भिन्न अनात्मा है ।)

मू०– एतदुक्तं भवति–यथा देहादिदृश्यत्वपराक्त्वादिहेतुभिस्तत्प्रत्यनीकद्रष्टृत्व प्रत्यक्त्वादेर्विविच्यते, एवमन्तःकरणरूपाहङ्कारोऽपि तद् द्रव्यत्वादेव तैरेव हेतुभिस्तस्माद् विविच्यत इति । अतो विरोधादेव न ज्ञातृत्वमहङ्कारस्य, दृशित्ववत् । यथा दृशित्वं तत्कर्मणोऽहंकारस्य नाभ्युपगम्यते तथा ज्ञातृत्वमपि न तत्कर्मणोऽभ्युपगन्तव्यम् । न च ज्ञातृत्वं विक्रियात्मकं, ज्ञातृत्वं हि ज्ञानगुणाश्रयत्वम् । ज्ञानञ्चास्य नित्यस्य स्वाभाविकधर्मत्वेन नित्यम् । नित्यत्वं चात्मनो–'नात्मा श्रुते' रित्या-

दिषु वक्ष्यति। 'ज्ञोऽत एव' इत्यत्र ज्ञ इति व्यप-देशेन ज्ञानाश्रयत्वञ्च स्वाभाविकमिति वक्ष्यति। अस्य ज्ञान स्वरूपस्यैव मणिप्रभृतीनां प्रभाश्रयत्व-मिव ज्ञानाश्रयत्वमप्यविरुद्धमित्युक्तम्। स्वयम-परिच्छिन्नमेव ज्ञानं सङ्कोचविकासार्हमित्युपपाद-यिष्यामः।

अनु०– (ऊपर यह बतलाया गया है कि ज्ञातृत्व अचेतन अहङ्कार का धर्म नहीं हो सकता है, उसी का स्पष्टीकरण देते हुये सिद्धान्ती यहाँ कह रहे हैं। 'एतदुक्तं भवतीत्यादि'–) कहने का आशय यह है कि जिस तरह दृश्य एव पराक् होने के कारण देह आदि अपने विरोधी द्रष्टा एवं प्रत्यक् (आत्मा से भिन्न सिद्ध होता है, उसी तरह अन्तःकरण स्वरूप अहंकार भी दृश्य एवं पराक् होने के कारण द्रष्टा एव प्रत्यक् आत्मा से भिन्न सिद्ध होता है। (यहां पर इस प्रकार का अनुमान होता है (१) अहङ्कारो द्रष्टा दृश्यत्वात् देहवत्, किञ्च २-अहङ्कारः प्रत्यङ्नोभवति पराक्त्वात्, देहवत्।) 'अतविरोधादेवेत्यादि–' अतएव स्वभाव विरोध के ही कारण ज्ञातृत्व अहंकार ग्रन्थि का धर्म नहीं माना जा सकता है (ज्ञातृत्व का अहंकार से इसलिए स्वभाव का विरोध होता है कि अहंकार जड़त्व एवं अचेतनत्व इत्यादि धर्मोंसे युक्तहै और ज्ञातृत्व चेतन का धर्म है। इस पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि हम देह और आत्मा का भेदक धर्म द्रष्टृत्व आदि का सद्-भाव एवं असद्भाव नहीं मानते हैं, अपितु देह आत्मा इसलिए

नहींहैं कि वह दृशि(द्रष्टा)नहींहै। अतएव ही वह जड़ एवं अनात्मा है। इसका उत्तर देतेहुये सिद्धान्ती कहते हैं) "दृशित्ववत्"-अर्थात् जिस तरह दृशित्व अहंकार का धर्म नहीं हो सकता है उसी तरह ज्ञातृत्व भी अहंकार का धर्म नहीं हो सकता है। "यथेत्यादि"– जिस तरह दृशित्व (द्रष्टृत्व) ज्ञान के विषयभूत (दृश्य) अहङ्कार का धर्म नही माना जाता है, उसी तरह ज्ञातृत्व को भी उसके विषयभूत अहङ्कार का धर्म नहीं मानना चाहिये।

(अद्वैती विद्वानों ने ऊपर के अनुच्छेद मे कहा था कि ज्ञातृत्व विक्रियात्मक याना विकारस्वरूप है,उसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कहते हैं –) 'न च ज्ञातृत्वमित्यादि"– यह नही कहा जा सकता है कि ज्ञातृत्व विकारस्वरूप है क्योंकि ज्ञान नामक गुण का आश्रय (आधार) होना ही कहलाता है ज्ञातृत्व। इस पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि ज्ञान क्रिया का आश्रय होने पर भी यदि वह कादाचित्क (सर्वदा नही रहने वाला) है तो फिर वह क्रियाश्रयके समान विकार स्वरूपही होगा। तो इसका उत्तर देते हुये सिद्धान्ती कहते हैं) "ज्ञानञ्चास्येत्यादि'— नित्य आत्मा का ज्ञान स्वाभाविक धर्म है, अतएव नित्य है। (यहाँ पर आत्मा को नित्य कह कर ज्ञान को उसका स्वाभाविक धर्म बतलाने का आशय यह है कि धर्म के स्वाभाविक होने पर भी यदि धर्मी अनित्य होगा तो फिर धर्म भी अनित्यही होगा। यदि धर्मी नित्य भी हो और धर्म स्वाभाविक न होकर औपाधिक हो तो भी उपाधिके समाप्त हो जानेपर धर्म अनित्य हो जायेगा। नित्य आत्मा का स्वाभाविक धर्म होने से ज्ञान भी नित्य ही होगा।

श्रुति भी कहती है- "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते-नित्यत्वादात्मनः।" अर्थात् ज्ञानवान् आत्मा के ज्ञान का कभी विनाश नहीं होताहै क्योंकि आत्मा नित्यहै।) सूत्रकार भी आत्मा के नित्यत्व का प्रतिपादन करते हुये कहेंगे-- 'नात्माश्रुतेः' अर्थात् आकाशादि भूतों के समान आत्मा की उत्पत्ति नही होती है, यह श्रुति ही बतलाती है। 'ज्ञोऽत एव' इस सूत्र में सूत्रकारने आत्मा को ज्ञः बतलाकर आत्मा का ज्ञानाश्रयत्व स्वाभाविक धर्महै, यह कहेंगे। यह पहले मैं कह चुका हूँ कि इस ज्ञानस्वरूप आत्मा का ज्ञानाश्रयत्व उसी प्रकार अविरुद्ध अनुकूल) है, जिस तरह मणि आदि (सूर्य) का प्रभाश्रयत्व अविरुद्ध है। (यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञान आत्मा का नित्य एवं स्वाभाविक धर्म है तो फिर उसे सर्वदा सर्वज्ञ होना चाहिये तो इसका उत्तर देतेहुए सिद्धान्ती कहते हैं -) "स्वयमित्यादि"- यद्यपि ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक एवं नित्य धर्म है, फिर भी वह संकोच एवं विकासके योग्य है। यह हम आगे 'सम्पद्याविर्भावः' इस सूत्रमें सिद्ध करेंगे। (अतएव सर्वदा आत्मा के सर्वज्ञ होने का कोई प्रसङ्ग नहीं है।)

मू०– अतः क्षेत्रज्ञावस्थायां कर्मणा संकुचितस्वरूपं तत्तत्कर्मानुगुणतरतमभावेन वर्तते,तच्चेन्द्रियद्वारेण-व्यवस्थितम्, तमिमिन्द्रियद्वारा ज्ञानप्रसरमपेक्ष्योदयास्तमयव्यपदेशः प्रवर्तते, ज्ञानप्रसरेतु कर्तृत्व-मस्त्येव। तच्च न स्वाभाविकम्, अपि तु कर्मकृत-मित्यविक्रियस्वरूप एवात्मा। एवं रूप विक्रिया–

त्मकं ज्ञातृत्वं ज्ञानस्वरूपस्यात्मन एवेति न कदाचिदपि जडस्याहङ्कारस्य ज्ञातृत्व सम्भवः ।

अनु० — (चूँकि ज्ञान की संकोचावस्था एवं विकासावस्था होती है) अतएव क्षेत्रज्ञावस्था (वद्ध जीवावस्था) में कर्मों के द्वारा ज्ञान का स्वरूप संकुचित रहता है और विभिन्न (अनुष्ठित) कर्मों के अनुसार (विभिन्न योनियों में ज्ञान में) न्यूनाधिक्य भाव हुआ करता है (विष्णु पुराण में भी कहा गया है तथा तिरोहितवाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञ संज्ञिता। सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन वर्तते।' अर्थात् हे राजन् उस तीसरी अविद्या नामक शक्ति के द्वारा के तिरोहित (सकुचित) कर दिये जाने के कारण सभी भूतों (जीवों में ज्ञान का तारतम्य यानी न्यूनाधिक्य भाव) हुआ करता है। अब यहां पर यह प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञान नित्य है तो फिर उसको इन्द्रिय निरपेक्ष होना चाहिये तथा उसका स्थावरों में भी विकास होना चाहिये। इसका उत्तर देते हुये सिद्धान्ती कहते हैं।) तच्चेत्यादि -- इन्द्रिय सापेक्षत्व के द्वारा ही ज्ञान का संकोच और विकास व्यवस्थित होता है। किञ्च ज्ञान का उदय (उत्पत्ति) एवं अस्तमन (विनाश) का प्रयोग ज्ञानके इन्द्रियों द्वारा प्रसार को ही लेकर होता है। [जिस समय ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से प्रसृत होता है, तो उसको ज्ञान की उत्पत्ति कहा जाता है, और ज्ञान के प्रसार का न होना ही, ज्ञान का विनाश कहलाता है।) यहां पर यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान का संकोच विकास मानने पर तो उसमें विक्रियात्मकता

स्वीकार करनी ही होगी, तो इसका उत्तर देते हुये सिद्धान्ती कहते हैं) 'ज्ञानप्रसरे इत्यादि'– अर्थात् ज्ञान के प्रसार में तो उसका ज्ञान क्रिया कर्तृत्व रूप विकार तो रहता ही है। किन्तु आत्मा का ज्ञान क्रिया कर्तृत्वरूप विकार उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है, अपितु वह कर्मजन्य है, अतएव आत्मा विकार रहित ही है। इस प्रकार का (संकोच विकासवान्) विकारात्मक ज्ञातृत्व ज्ञान स्वरूप आत्मा का ही धर्म है, कभी भी जड़ अहंकार का धर्म ज्ञातृत्व नहीं सम्भव है।

❀ चिच्छायापत्ति पक्ष का खण्डन ❀

मू०– जडस्वभावस्याहंकारस्य चित्संनिधानेन तच्छायापत्या तत्संभव इति चेत्, केयं चिच्छायापत्तिः– किमहंकारच्छायापत्तिः संविदः उत संविच्छायापत्तिरहंकारस्य। न तावत् संविदः संविदिज्ञातृत्वानभ्युपगमात्। नाप्यहंकारस्य, उक्तरीत्या तस्य जडस्य ज्ञातृत्वायोगात्, द्वयोरप्यचाक्षुषत्वाच्च। नह्यचाक्षुषाणां छाया दृष्टा।

अनु०— (ऊपर यह बतलाया गया है कि ज्ञातृत्व अहंकार का धर्म नहीं हो सकता है, उसे आत्मा का ही धर्म मानना चाहिये। प्रस्तुत अनुच्छेद में अद्वैत के ज्ञातृत्व के निर्वाह प्रकार का खण्डन किया जा रहा है। अद्वैती विद्वान् यह कहा करते हैं कि यद्यपि ज्ञातृत्व आत्मा का धर्म नहीं है, फिर भी उसकी आत्मा

में प्रतीति चिच्छायापत्ति के कारण, अथवा चित्सम्पर्क के कारण अथवा चिदभिव्यंजकत्व के कारण होती है। इन तीनों पक्षों में सिद्धान्ती सर्वप्रथम चिच्छायापत्ति पक्ष का अनुवाद करके उसका खण्डन करते हैं 'जडस्वभावस्याहंकारस्येत्यादि' ग्रन्थ के द्वारा) अर्थात् यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि– अहकार तो जड स्वभाव है फिर भी चैतन्य के सन्निधान के द्वारा उसकी छाया पड़ने से ज्ञातृत्व संभव है, तो उन (अद्वैती विद्वानों) से यह पूछना है कि) इस चिच्छायापत्ति का क्या स्वरूप है ? (अर्थात् चिच्छायापत्ति में कैसा समास है? षष्ठीतत्पुरुष अथवा सप्तमीतत्पुरुष। अर्थात् क्या वे यह मानते हैं कि) अहंकार में संवित् की छाया पड़ती है। अथवा (चित् में सप्तमी विभक्ति मानकर) संवित् में अहंकार की छाया पड़ती है, (ऐसा मानते हैं? उनमें पहले) सवित् (ज्ञान) की अहंकार में छाया पड़ती है यह पक्ष नहीं माना जा सकताहै-क्योंकि अद्वैत सिद्धान्तमें ज्ञानमें ज्ञातृत्व नहीं स्वीकार किया जाता है। अहंकार की भी संवित् में छायापत्ति नहीं स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि जड़ अहकार मे ज्ञातृत्व का योग ही संभव नहीं है। किञ्च दोनोंमे से किसी की भी छायापत्ति इसलिए नहीं मानी जा सकताहै कि दोनों (निरूप होने के कारण) अचाक्षुष् हैं, (यानी चक्षुरिन्द्रिय के विषय नहीं बनते हैं) और आज तक कहीं भी अचाक्षुष् वस्तुओं की छाया नही देखी गयी है। (अतएव यह नही कहा जा सकता है कि चिच्छायापत्ति के कारण ज्ञातृत्व की प्रतीति होती है।

—:※:—

❀ चित्सम्पर्क पक्ष का खण्डन ❀

मू०— अथाग्नि संपर्कादयः पिण्डौष्ण्यवच्चित् सम्पर्काज्ज्ञातृत्वोपलब्धिरिति चेत्--नैतत्,संविदि वस्तुतो ज्ञातृत्वानभ्युपगमादेव न तत् सम्पर्कादहंकारे ज्ञातृत्वं, तदुपलब्धिर्वा, अहंकारस्य त्वचेतनस्य ज्ञातृत्वा संभवादेव सुतरां न तत्सम्पर्कात्संविदि ज्ञातृत्वं--तदुपलब्धिर्वा ।

अनु०- अथाग्नि सम्पर्कादित्यादि— यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि यद्यपि ज्ञातृत्व अहंकार का धर्म नहीहै फिर भी जिस तरह यद्यपि उष्णता अयोगोलक (लोह पिण्ड) का धर्म नहीं है फिर भी) अग्नि के सम्पर्क से अयोगोलक में दाहकता आ जाती है उसी तरह चैतन्य के सम्पर्क से अहंकार में ज्ञातृत्व की उपलब्धि होती है, (किन्तु अद्वैती विद्वानों का यह कथन ठीक नही है-उन लोगों (अद्वैती विद्वानों द्वारा) वास्तविक रूप से ज्ञातृत्व के नहीं स्वीकार किये जाने के कारण ही उस (चेतन्य) के सम्पर्क से अहंकार में ज्ञातृत्व न तो स्वीकार किया जा सकता है, और न तो उसकी (ज्ञान की अहंकार मे) उपलब्धि ही हो सकतीहै। और अहंकार तो अचेतनहै अतएव उसमें तो ज्ञातृत्व के असम्भव ही होने के कारण उसके सम्पर्कमात्र से संविद् में ज्ञातृत्व की न तो सिद्धि हो सकती है, और न तो उसकी उपालब्धि ही हो सकती है।

❀ चिदभिव्यंजकत्व पक्ष का खण्डन ❀

मू०— यदप्युक्तम्—उभयत्र न वस्तुतो ज्ञातृत्वमस्ति, अहंकार स्त्वनुभूतेरभिव्यञ्जकः । स्वात्मस्थामेवानुभूतिमभिव्यनक्त्यादर्शादिवदिति-तदयुक्तम्, आत्मनः स्वयंज्योतिषो जडस्वरूपाहंकाराभिव्यंग्यत्वायोगात् । तदुक्तम्—शान्ताङ्गार इवादित्यमहङ्कारो जडात्मकः स्वयंज्योतिषमात्मानं व्यनक्तीति न युक्तिमत् ।। इति स्वयंप्रकाशानुभवाधीनसिद्धयो हि सर्वे पदार्थाः, तत्र तदायत्तप्रकाशोऽचिदहंकारोऽनुदितानस्तमितस्वरूपप्रकाशमशेषार्थसिद्धिहेतुभूतमनुभवमभिव्यनक्तीत्यात्मविदः परिहसन्तीति । किञ्चाहंकारानुभवयोः स्वभावविरोधात्, अनुभूतेरनुभूतित्वप्रसङ्गाच्च न व्यङ्क्तृव्यङ्ग्यभावः । तथोक्तम्—व्यङ्क्तृव्यङ्ग्यत्वमन्योन्यं न च स्यात् प्रातिकूल्यतः । व्यङ्ग्यत्वेननुभूतित्वमात्मनि स्याद् यथा घटे ।। इति ।।

न च रविकरनिकराणां स्वाभिव्यङ्ग्य करतलाभिव्यंग्यत्ववत् संविदभिव्यङ्ग्याहंकाराभिव्यंग्यत्वं संविदः साधीयः, तत्रापि रविकरनिकराणां करतलाभिव्यंग्यत्वाभावात् । करतलप्रतिहतगतयो हि रश्मयो बहुलाः स्वयमेव स्फुटतरमुपलभ्यन्त इति

तद्बाहुल्यमात्रहेतुत्वात् करतलस्य नाभिव्यंज-कत्वम्। किञ्चास्य संवित् स्वरूपस्यात्मनोहंकार निर्वर्त्याभिव्यक्तिः किं रूपा? न तावदुत्पत्तिः स्वतः सिद्धतयानन्योत्पाद्यताऽभ्युपगमात्। नापि तत्प्रका-शनम्, तस्या अनुभवान्तराननुभाव्यत्वात्। तत एव च न तदनुभवसाधनानुग्रहः। स हि द्विधा--ज्ञेय-स्येन्द्रिय संबन्धहेतुत्वेन वा, यथाजाति निजमुखादि-ग्रहणे व्यक्ति दर्पणादीनां नयनादीन्द्रिय संबन्ध हेतु-त्वेन, बोद्धृगतकल्मषापनयनेन वा यथा परतत्वाव-बोधन साध नस्य शास्त्रस्यशमदमादिना यथोक्तम्-'करणानामभूमित्वान्न तत् संबन्ध हेतुते'ति।

अनु०– (उपर्युक्त अनुच्छेदों में अद्वैती विद्वानों के चिच्छाया-पत्ति पक्ष तथा चित्सम्पर्क पक्ष का खण्डन किया जा चुका है, प्रस्तुत अनुच्छेद में सिद्धान्ती अद्वैती विद्वानों के चिदभिव्यंजकत्व पक्ष का अनुवाद करके खण्डन करते हैं) "यदप्युक्तम् इत्यादि"– अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि वास्तुतः ज्ञातृत्व (न तो अहंकार का धर्म है और न तो संवित् का ही धर्म है अतएव) दोनों में से किसीमें भी नहीं है किन्तु अहंकार अनुभूति का प्रका-शक है, अतएव जिस तरह आदर्श (दर्पण) (अपने भीतर ही प्रतिविम्बित होने वाले मुख आदि पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी तरह) अपने भीतर ही अनुभूति का प्रकाशन किया करता है, क्योंकि प्रकाशक पदार्थों का यह स्वभाव होता है कि

वे अपने भीतर ही प्रकाश्य वस्तुओं का प्रकाशन किया करते हैं।) अद्वैती विद्वानों का यह कथनयुक्ति संगत नहीं है- क्योंकि स्वयं प्रकाश आत्मा जडस्वरूप अहंकार का अभिव्यंग्य (प्रकाश्य) नहीं हो सकता है। जैसा कि श्रीयामुनाचार्य ने आत्मसिद्धि में कहा भी है- "शान्ताङ्गार० इत्यादि"- सूर्य के समान स्वयंप्रकाश आत्मा को शान्त अङ्गारके समान जडअहंकार अभिव्यक्त (प्रकाशित) करता है, यह अद्वैती विद्वानों का कथनयुक्ति संगत नहीहै। (कहने का आशय यह है कि जिस तरह शान्त अङ्गार सूर्य को नहीं प्रकाशित कर सकता है उसी तरह जड़ अहंकार भी स्वयं प्रकाश आत्मा का अभिव्यंजन नहीं कर सकता है। इस कारिका में अङ्गार का शान्त विशेषण देकर यह बतलाया गया है कि अङ्गार में तो कुछ ज्योति होती भी है किन्तु जो अङ्गार बिल्कुल बुझकर राख हो गया है उसमें ज्योति का लेश भी नहीं है, वह सूर्य को क्या किसी भी वस्तु को नहीं प्रकाशित कर सकता है, और उसको सूर्य का प्रकाशक बतलाना जितना असंगतहै,उतना ही असंगत है अहंकार को आत्मा का प्रकाशक बतलाना। इसी कारिका को स्पष्ट करते हुये सिद्धान्ती कहते हैं) स्वयंप्रकाशा-नुभवेत्यादि अर्थात् अद्वैती विद्वान् भी यह मानते है कि सभी पदार्थों का प्रकाशन स्वयंप्रकाश अनुभूति के अधीन हुआ करता है। उनमें अनुभूति के ही द्वारा जिसकी सिद्धि हुआ करती है वह जड अहंकार उस अनुभूति का प्रकाशन किया करता है जिसके स्वरूप का प्रकाश नित्य है तथा जो (अनुभूति) सभी विषयों के प्रकाश का कारण है। (इस अद्वैतीविद्वानों के कथन को सुनकर) आत्मवादी उसका मजाक उड़ाते हैं।

(किञ्च–यदि किसी तरह से अद्वैती विद्वानों का कथन मान भी लिया जाय तो स्वभाव के भी विरोध के कारण न तो अहंकार अभिव्यंजक हो सकता है और न तो अनुभूति अभि-व्यंग्य ।) 'किञ्चेत्यादि'– स्वभाव विरोध के और अहंकार एवं अनुभव के स्वभावगत विरोध के कारण (अनुभूति को अहंकार का अभिव्यंग्य मान लेने पर) अनुभूति के अनुभूति से भिन्न होने का प्रसङ्ग होने से भी (अनुभूति तथा अहंकार में) व्यंग्य व्यंजक-भाव नहीं हो सकता है। क्योंकि यदि अनुभूति अहंकार का अभिव्यंग्य हो गयी तो वह उसी तरह से अनुभूति से भिन्न होगी जिस तरह अभिव्यंग्य घट आदि। अनुभूति और अहकार के स्व-भाव का विरोध यह है कि- अनुभव सभी वस्तुओं का प्रकाशन किया करताहै तथा अहंकार का स्वभाव यहहै कि उसका प्रका-शन अनुभव के अधीन हुआ करता है। जिस तरह पिता और पुत्र में पितृत्व और पुत्रत्वभाव संबन्धहै किन्तु पुत्रत्व पुत्रगत एवं पितृत्व पितृगत धर्म है। ऐसा नहीं हो सकता है कि एक का धर्म दूसरे में चला जाय, उसी तरह व्यंजकत्व अनुभव का स्वभाव है अहंकार का नहीं।) इसी तरह श्रीयामुनाचार्य भी आत्मसिद्धिमें कहते हैं– 'व्यङ्येत्यादि'- स्वभाव प्रातिकूल्य के कारण भी अहं-कार और आत्मा में व्यंग्य व्यंजकभाव नहीं हो सकताहै। किञ्च-अनुभूतिको व्यंग्य माननेपर आत्मामें उसी तरह अनुभूति भिन्नत्व होगा जिस तरह (अनुभाव्य) घट में (अनुभूति भिन्नत्व) है।

न चेत्यादि–यहांपर अद्वैतीविद्वान् यदि कहें कि सूर्य किरण समुदायों के अपने द्वारा प्रकाश्य करतल (हथेली) के द्वारा प्रकाश्यमानता के समान संवित्के द्वारा प्रकाशित होने वाले अहं-कार के द्वारा संवित् की अभिव्यंग्यता उचित ही है। (अर्थात् यदि किसी गवाक्ष मार्ग से किसी घर में सूर्य की किरणें आ रही

हों तो उसकी प्रतीति नहीं होती,किन्तु यदि वहींपर हथेली लगा दी जाय तो फिर वहीं पर सूर्य की किरणों की स्पष्ट प्रतीति होने लगती है। यद्यपि सूर्य की किरणें स्वयंप्रकाश हैं, उनके ही द्वारा हथेली प्रकाशित होती है, किन्तु वहां पर हथेली ही सूर्य की किरणों की प्रकाशिका बन जाती है. उसी तरह यद्यपि अहंकार संवित् का प्रकाश्य है फिर भी वह संवित् का प्रकाशक है।) तो अद्वैती विद्वान यह नहीं कह सकते हैं।) वहां भी सूर्य की किरणों का प्रकाशक हथेली नहीं है, क्योंकि करतल के द्वारा सूर्य की किरणों की गति रुक जाती है.और वे किरणें वहीं पर अधिक मात्रा में एकत्रित हो जाती हैं और वे स्वयं ही वहाँ पर अधिक स्पष्टरूप से प्रतीति होने लगती हैं। इस तरह वह (हथेली) किरणों के एकत्रितमात्र होने का कारण है, प्रकाशक नहीं।

किञ्चेत्यादि— दूसरी बात यह है कि इस ज्ञानस्वरूप आत्मा की जो अहंकार के द्वारा अभिव्यक्ति संपादित होतीहै, उसका क्या स्वरूप है ? (अर्थात् अद्वैती विद्वान् अभिव्यक्ति को उत्पत्ति रूप, अथवा प्रकाशनरूप अथवा अनुभवके साधनानुग्रहरूप मानते हैं। सर्वप्रथम उत्पत्ति पक्ष का खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कहते हैं)

न तावदुत्पत्तिः इत्यादि— (सांख्य विद्वानों का कहना है कि उत्पत्ति ही अभिव्यक्ति है किन्तु आत्मा की अभिव्यक्ति) उत्पत्ति नही हो सकती है,क्योंकि (अद्वैती विद्वान् संवित् को) स्वतः सिद्ध (अनादि) मानने के कारण उसे अनन्योत्पाद्य (अर्थात् नित्य) मानते हैं। आत्मा की अभिव्यक्ति, आत्मा का प्रकाशन (अर्थात् आत्मा विषयक प्रकाश का जनन) भी नहीं हो सकती है, क्योंकि संवित को वे किसी दूसरे ज्ञान का विषय होना नहीं स्वीकार करते हैं।

तीसरे पक्ष का खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कहते हैं—
तत एव चेत्यादि चूँकि अभिव्यक्ति उत्पत्ति तथा आत्मविषयक प्रकाशजननत्व रूप नहीं हो सकती है अतएव वह (अभिव्यक्ति) आत्मानुभव साधनानुग्रह (Any-action of Assisting the Means of being Concious of Conciousness)आत्मा के अनुभव के साधन की कोई सहायिका क्रिया) भी नहीं हो सकती है। क्योंकि वह (आत्मानुभव साधनानुग्रह भी दो प्रकार का होता है ज्ञेय (विषयों) का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने के कारण– जैसे जाति [Species] अपना मुख आदि के ग्रहण में,व्यक्ति [Individual] दर्पण आदि की नेत्रादि इन्द्रियों से सम्बन्ध स्थापन की हेतु भूत [सहायक क्रियायें] अथवा ज्ञाता के बुद्धि के कल्मष [Obstructive Impurity] को दूर करने के द्वारा–जैसे परतत्त्व [Highest-Reality] के ज्ञान के साधन शास्त्र [Scripture] की सहायिका शम (Calmness) दम (Salf-Restraint) की क्रियाये । (अर्थात् आत्मा के अनुभव के जो साधन हैं उनकी सहायिका क्रियारूप से भी अभिव्यक्ति को नहीं माना जा सकताहै । क्योंकि ये सहायिका कियाएँ दो प्रकार की होती हैं । [१] इन्द्रियार्थ संबन्ध की हेतु भूत क्रिया क्रियाएँ- (To Cause the Connexion of the Object to be Known With Sense organse) जैसे अपने मुख एवं चक्षुरिन्द्रिय में सम्बन्ध होने की हेतु भूत क्रियायें दर्पण की होती हैं । [२] ज्ञातृके बुद्धिगत दोषों को दूरी करण की क्रियाएँ । शास्त्र परतत्त्व ज्ञान के साधनहैं और शम दम आदि ज्ञाता की बुद्धिके दोषों का अपनयन किया करते हैं ।) जैसा कि [आत्मसिद्धि नामक ग्रन्थ में] कहा गया है–वह [अभिव्यक्ति] [आत्मारूपी] विषय का इन्द्रियों से सम्बन्ध का कारण भी नहीं हो सकती है क्योंकि (आत्मा) इन्द्रियों का विषय ही नहीं है ।

मूल– किञ्च–अनुभूतेरनुभाव्यत्वाऽभ्युपगमेऽप्यहमर्थेन न तदनुभवसाधनानुग्रहः सुवचः, सह्यनुभाव्यानुभवोत्पत्ति प्रतिबन्ध निरसनेन भवेत्, यथा रूपादि ग्रहणोत्पत्ति-निरोधि संतमसनिरसनेन चक्षुषो दीपदिना । न चेह तथाविधं निरसनीयं संभाव्यते । न तावत्संविदात्म-गतं तज्ज्ञानोत्पत्तिनिरोधि किञ्चिदप्यहंकाराऽपनेय-मस्ति । अस्ति ह्यज्ञानमिति चेन्न-अज्ञानस्याहंकाराप नोद्यत्वानभ्युपगमात् । ज्ञानमेव ह्यज्ञानस्य निवर्तकम् । न च संविदाश्रयत्वमज्ञानस्य संभवति, ज्ञान समाना-श्रयत्वात् तत् समानविषयत्वाच्च, ज्ञातृभाव विषय-भाव विरहिते ज्ञानमात्रे साक्षिणि नाज्ञानं भवितु मर्हति । यथा ज्ञानाश्रयत्व प्रसक्ति शून्यत्वेन घटादे-र्नाज्ञाना श्रयत्वम्, तथा ज्ञानमात्रेऽपि ज्ञानाश्रयत्वा भावेन नाज्ञानाश्रयत्वं स्यात् । संविदोऽज्ञानाश्रयत्वा-भ्युपगमेऽपि आत्मतया अभ्युपगतास्तस्याज्ञानविषय त्वाभावेन ज्ञानेन न तद्गताज्ञान निवृत्तिः । ज्ञानं हि स्वविषय एवाज्ञानं निवर्तयति, यथा रज्वादौ । अतो न केनापि कदाचित् संविदाश्रयमज्ञानमुच्छिद्येत । अस्य च सदसदनिर्वचनीयस्याज्ञानस्य स्वरूपमेव

दुर्निरूपमित्युपरिष्टाद् दक्ष्यते । ज्ञान प्रागभावरूपस्य चाज्ञानस्य ज्ञानोत्पत्ति विरोधित्वाभावेन न तन्निरस-नेन तज्ज्ञानसाधनानुग्रहः । अतो न केनापि प्रकारेणा-हङ्कारेणानुभूतेरभिव्यक्तिः ।

अनु०— दूसरी बात यह है कि–अनुभूति (conscious-ness) को अनुभव का विषय मान लेने पर भी अहमर्थ (I) द्वारा उसके (अनुभूति) अनुभव की सहायता नहीं स्वीकार की जा सकती है । क्योंकि वह (अहंकार के द्वारा सहायता) अनुभव के विषय (अनुभूति) के अनुभवकी उत्पत्तिके प्रतिवन्धक (Any obstacles impeding the origination) को दूर करके ही हो सकती है । जैसे रूप आदि के ग्रहण की उत्पत्ति के विरोधी घोर अन्धकार को दूर करके दीपक आदि चक्षुरिन्द्रिय का उपकार करते हैं । आत्मा में इस प्रकार की कोई प्रतिवन्धक वस्तु नही है जिसका अपाकरण अहंकार के द्वारा किया जा सके । क्योंकि संविदात्मा में उसके ज्ञान की उत्पत्ति के विरोधी कुछ भी अहंकार के द्वारा अपनेय (to be remo ved) नहीं है । यदि यहां पर अद्वैती विद्वान यह कहेकि अज्ञान [Nescience]

तो है ही, (उसी को अहंकार दूर करता है) तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि (आपके सिद्धान्त में) अज्ञान को अहंकार के द्वारा अपनोद्य (दूर करने के योग्य) नहीं माना जाता है । केवल ज्ञान ही अज्ञान को दूर कर सकता है । और

ज्ञान (Knowledge) अज्ञान का आश्रय (Abode) भी नही हो सकता है। क्योंकि ज्ञान और अज्ञान का आश्रय (Abode) और विषय [object) समान ही होता है। ज्ञातृत्व एव विषयत्व रहित ज्ञानमात्र (Pure Knowledge) साक्षी (Witnessing) आत्मा में अज्ञान नही हो सकता है। जिस तरह ज्ञानवत्व (Abode-ness of Knowledge) के प्रसंग से रहित घट आदि में अज्ञानवत्व नही होता है, उसी प्रकार ज्ञानमात्र संविदात्मा में भी ज्ञानवत्व का अभाव होने के कारण अज्ञानवत्त्व (The abode-ness of Nescience) भी नही हो सकता है। संवित् को अज्ञान का आश्रय मान लेने पर भी आत्मा [Self] रूप से स्वीकृत उस (अनुभूति) के ज्ञान का विषय (अनुभाव्य) न होने के कारण ज्ञान के द्वारा संविद् गत (Abiding with concious ness) अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि ज्ञान स्व विषयक (उसीको विषय बनाने वाले) अज्ञान को दूर करता है। जैसे रज्जु आदि में। अतएव किसी के भी द्वारा कभी भी संविदात्मगत अज्ञान नष्ट [To distroy] नहीं किया जा सकता है। और इस सदसद अनिर्वचनीय (Neither as Bing nor non-Being) अज्ञान का स्वरूप बिल्कुल निरूपणीय नहीं (In comprahensible) है, यह हम आगे चलकर कहेंगे। किञ्च अज्ञान को ज्ञान का प्रागभाव (The antecedent non-exitstence af knowledge] मानलें तो भी वह ज्ञानकी उत्पत्तिका विरोधी न होने के

कारण उसके [अज्ञान के] निरास करने मात्र से अहंकार ज्ञान के साधन का अनुग्रह नहीं हो सकता है। अतएव किसी प्रकार से अहंकार के द्वारा अनुभूति की अभिव्यक्ति नही हो सकती है।

टिप्पणी—सहि इत्यादि—

अभिव्यक्ति का अर्थ अनुग्रह रूप माना जाय तो अहंकार आत्मा का उपकारक नही हो सकता हैं, क्योंकि आत्मा अनुभव का विषय है ही नही। यदि उसे अनुभव का विषय मान भी लिया जाय तो भी अहंकार आत्मा के अनुभव की उत्पत्ति के विरोधी का अपनयन करके ही उसका उपकार कर सकता है किन्तु आत्मा में ऐसी कोई चीज है नही जो आत्मानुभव की का विरोधी हो।

संविदाश्रयत्वम्—

आश्रयत्व का अर्थ है संविद का सम्बन्धी होना। आश्रयण सम्बन्ध का वाचक है। वह सम्बन्ध दो तरह का होता है- कर्म रूप से तथा आश्रय रूप से। 'आश्रयश्चेतसो ब्रह्म' इत्यादि प्रयोगो में आश्रय शब्द विषय का भी वाचक देखा जाता है। अतएव संवित्‌का अज्ञान से सम्बन्ध चाहे आश्रय रूप से माने अथवा विषय रूपसे दोनों ही प्रकारसे अयुक्त ही होगा। यथा ज्ञानाश्रयत्वं- इत्यादि वाक्य का आशय है कि जिस तरह घट आदि में कभी ज्ञान नहीं होता है तो उनमे कभी अज्ञान भी नहीं पाया जाताहै, उसी तरह से आत्मा यदि अद्वैत सिद्धान्त में

ज्ञान मात्र होने के कारण ज्ञातृत्व से रहित है, तो फिर इसमें अज्ञान कहाँ से आ सकता है? क्योंकि अज्ञान का आश्रय अथवा विषय वही हो सकता है जो ज्ञान का भी आश्रय और विषय हो।

मूल- न च स्वाश्रयतयाऽभिव्यंजनमभिव्यंजकानां स्वभावः, प्रदीपादिष्वदर्शनात्, यथावस्थित पदार्थप्रतीत्यनुगुणस्वाभाव्याच्च, ज्ञानतत्साधनयोरनुग्राहकस्य च। तच्च स्वतः प्रामाण्य न्यायसिद्धम्। न च दर्पणादिर्मुखादेरभिव्यञ्जकः अपि तु चाक्षुषतेजः प्रतिफलनरूपदोषहेतुः। तद्दोषकृतश्च तत्रान्यथावभासः, अभिव्यञ्जकस्त्वालोकादिरेव। न चेह तथाह कारेण संविदि स्वप्रकाशायां तादृशदोषापादन सम्भवति। व्यक्तेस्तु जातिराकार इति तदाश्रयतया प्रतीतिः, न तु व्यक्तिव्यङ्ग्यत्वात्। अतोऽन्तः करणभूताहंकारस्थतया संविदुपलब्धेर्वस्तुतो दोषतोवा न किञ्चिदिह कारणमिति नाहंकारस्य ज्ञातृत्वं तथोपलब्धिर्वा। तस्मात् स्वत एव ज्ञातृतया सिद्ध्यन्नहमर्थ एव प्रत्यगात्मा, न ज्ञप्तिमात्रम्। अहंभाव विगमे तु ज्ञप्तेरपि न प्रत्यक्त्व सिद्धिरित्युक्तम्।

अनु०— (अभिव्यंजकों का यह स्वभाव नहीं होता

है कि वे अपने अभिव्यंग्य वस्तुओं का प्रकाशन अपने आश्रय रूप से करें, क्योंकि (यह स्वभाव प्रकाशक) दीपक आदि में नहीं पाया जाता है, (कि वे अपने प्रकाश्य घट आदि का प्रकाशन अपने भीतर ही करें ।] ज्ञान, ज्ञान के साधन, तथा उनके उपकारकों का जो वस्तु जैसी है, उसे ठीक वैसी ही प्रतीति करा देने का स्वभाव होता है, यह ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य न्याय से ही सिद्ध है । और दर्पण आदि मुख आदिके अभिब्यंजक भी नहीं हैं, बल्कि वे तो नायन (नेत्र की) ज्योति के प्रतिफलन रूप दोष के कारण है, और उसी दोष के कारण वहाँ मुखड़े की अन्यथा (अवास्तविक रूप से) प्रतीति होती है । [यानी दर्पण के बाहर भी विद्यमान मुखड़ा दर्पण के भीतर ही प्रतीत होता है ।) (मुखादि का) अभिव्यंजक (प्रकाशक) तो प्रकाश आदि ही हैं (दर्पण आदि नहीं ।) किञ्च स्वच्छ मूर्त द्रव्य दर्पण अपने विषय भूत मुखड़े आदिका दर्पण आदि में दोष उत्पन्न करके अन्यथाबभास कराया करते हैं, अहंकार तो मूर्त स्वच्छ स्थूल द्रव्य भी नहीं है, और संवित् किसी का विषय भी नहीं बनती है और दोनों अचाक्षुष् द्रव्य है, अतएव अहंकार संवित् में कोई अन्यथाभास रूप दोष भी नहीं उत्पन्न कर सकता है, इसी बात को सिद्धान्ती कहते हैं ।)

न चेह इत्यादि—

और यह स्पष्ट है कि अहंकार स्वयं प्रकाश-संवित् में उपर्युक्त प्रकार का कोई दोष भी नहीं उत्पन्न कर सकता है ।

यहाँ पर यदि आप यह कहें कि दर्पण भले ही प्रकाशक न हों किन्तु व्यक्ति को तो जाति का प्रकाशक मानना ही होगा, और देखा जाता है कि व्यक्ति जाति का स्वाश्रयरूप से ही प्रकाशन करती है। तो इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि— व्यक्तेस्तु इत्यादि—जाति तो व्यक्ति का आकार ही है। अतएव उसकी जात्याश्रय रूप से प्रतीति होती है। इसलिये (उसकी ऐसी प्रतीति) नहीं होती है कि जाति उसका आश्रय है। अतएव अन्तःकरण स्वरूप अहंकार में स्थित रूप से ज्ञान की उपलब्धि का वास्तविक अथवा दोषजन्य कोई भी कारण नहीं है। अतएव अहकार का धर्म ज्ञातृत्व नहीं है और न तो संवित् की अहंकार के भीतर उपलब्धि होती है। इस तरह ज्ञाता रूप से सिद्ध होने वाला अहमर्थ ही प्रत्यगात्मा है ज्ञानमात्र (आत्मा) नहीं है। यह हम कह भी चुके हैं कि अहंभाव मैं मैं इस तरह व्यवहारानुगुण प्रतीति के अभाव में ज्ञाप्ति के आत्मत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है।

सुषुप्ति में भी अहमर्थ अनुवर्तित होता रहता है।

मूल- तमो गुणाभिभवात् परागर्थानुभवाभावाच्चाहमर्थस्य विविक्तस्फुट प्रतिभासाभावेऽप्याप्रबोधादहमित्येकाकारेणात्मनःस्फुरणात् सुषुप्तावपि नाहंभावविगमः। भवदभिमताया अनुभूतेरपि तथैव प्रथेति वक्तव्यम्।

न हि सुप्तोत्थितः कश्चिदहं भाववियुक्तार्थान्तर प्रत्यनीकाकारा ज्ञप्तिरहमज्ञानसाक्षितयावतिष्ठत इत्येवंविधां स्वापसमकालामनुभूतिं परामृशति । एव सुप्तोत्थितस्य परामर्शः सुखमहमस्वाप्सामिति । अनेन प्रत्वयमर्शेन तदानीमप्यहमर्थस्यैवात्मनः सुखित्व ज्ञातृत्वञ्च ज्ञायते ।

अनु०– (अद्वैती विद्वानों का कहना है कि अहमर्थ को आत्मा इसलिए भी नहीं माना जा सकता है कि वह सुषुप्ति काल में नहीं रहता । यदि वह (अहमर्थ) ही आत्मा होता तो उसकी 'मैं' 'मैं' इस रूप से सुषुप्ति काल में भी अनुभूति होती । चूँकि नहीं होती है । अतएव पता चलता है कि अहमर्थ आत्मा नहीं है । इसी लिए गहरी नींद में सोया हुआ व्यक्ति जागने पर भी यह अनुभव करता है कि मैं ऐसे सोया कि अपने को भी नहीं जान पाया । इस परामर्श वाक्य से भी अहमर्थ का सुषुप्ति में अभाव प्रतीत होता है । यही नहीं 'नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मान जानाति अयमहमस्मीति' यह श्रुति वाक्य भी सुषुप्तिकाल में अहमर्थ का अभाव बतलाता है । अतएव अहमर्थ आत्मा नहीं है । अद्वैती विद्वानों के इस अथ का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती का कहना है ।)

तमोगुणाभिभवादित्यादि—

सुषुप्ति काल में भी अहंभाव की समाप्ति नहीं होती है,

वल्कि उस समय तमोगुण के उद्रिक्त हो जाने से अहंभाव के अभिभूत हो जाने के कारण, अन्य वाह्य विषयों का अनुभव नहीं होने से, अहमर्थ की विविक्त स्वेतर समस्त व्यतिरिक्त रूप से एवं अनेक विशेषण विशिष्ट स्फुटावभास नहीं होने पर भी [सोने से लेकर] जगने पर्यन्त आत्मा की केवल 'मैं' 'मैं' इस रूप मे ही प्रतीति होती है। कहने का आशय यह है कि उस समय आत्मा के व्यावर्तक ब्राह्मणत्व आदि बाह्य धर्मों तथा बुद्धि सुख आदि आभ्यन्तर धर्मों की भी प्रतीति न होने के कारण अहमर्थ की स्फुट प्रतीति मैं ब्राह्मण हूँ इत्यादि रूप से नहीं होतीं है। फिर भी उस समय केवल अहमर्थ का भान तो रहता ही है जिसका परामर्श सो कर जगने वाला अहं शब्द से करता है। माम् शब्द से बाह्य एवं आभ्यन्तर धर्मों को बतलाया जाता है। परामर्शकर्ता उनका ही अभाव स्वापकाल में अनुभव करता है। यदि आप कहें कि यदि विशदावभास अहमर्थं का सुषुप्ति काल में नही होता है तो फिर कैसे माना जाय कि उस समय अहमर्थ रहता ही है इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं।

भवदभिमताया इत्यादि—

आपके अभिमत अनुभूति की भी यही स्थिति माननी चाहिये। अर्थात् केवल अहमर्थं के ही स्फुरण में अवैशद्य की स्थिति नहीं है। आपके अभिमत अनुभूति का विशदावभास नहीं होता है। अतएव उसका भी आभास आपको मानना ही चाहिए। किञ्च अद्वैती विद्वान् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी विशदावभास

नहीं मानते हैं, अतएव उसकाल में पृथक्-पृथक् वस्तुओं का अवभास न होने के कारण अनुभूति का अभाव मानना होगा। किञ्च सुषुप्तिकाल में अहमर्थ का अविशदावभास 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योति र्भवति' इस श्रुति के अनुसार प्रामाणिक है। और कोई भी सोकर जगने वाला व्यक्ति स्वापकाल में होने वाली अनुभूति का इस प्रकार से परामर्श नहीं करता है कि अहंभाव से रहित ज्ञातृज्ञेय आदि सभी विशेषों से रहित ज्ञान मात्र मैं अज्ञान का साक्षी हूँ। सोकर उठने वाले का यही परामर्श होता है कि मैंने सुख पूर्वक सोया इस प्रकार के प्रत्यवमर्श [स्मरण] के द्वारा सुषुप्तिकाल में भी अहमर्थ आत्मा का ही सुख का अनुभव कर्तृत्वतथाज्ञातृत्व प्रतीत होता है। अतएव सुषुप्तिकाल में भी अहमर्थ अनुवर्तित होता रहता है।

मूल- न च वाच्यं, यथेदानीं सुखं भवति, तथा तदानीमस्वाप्स मित्येषा प्रतिपत्तिरिति, अतद्रूपत्वात् प्रतिपत्तेः न चाहंमर्थस्यात्मनोऽस्थिरत्वेन तदानीमहमर्थस्य सुखित्वानुसंधानानुपपत्तिः, यतः सुषुप्तिदशायाः प्रागनुभूतं वस्तु सुप्तोत्थितो 'मयेदं कृतं, मयेदमनुभूतमहमेततद वोचम्, इति परामृशति। 'एतावन्तं कालं न किञ्चिदहमज्ञासिषम्, इति च परामृशतीति चेत्, ततः किम् न किञ्चिदिति कृत्स्न प्रतिषेध इति चेन्न, नाहमवेदिषमिति वेदितुरहमर्थस्यैवानुवृत्तेः वेद्यविषयोहिसः

प्रतिषेधः । न किञ्चिददिति निषेधस्य कृत्स्नविषयत्वे भवदभिमतानुभूतिरपि प्रतिषिद्धा स्यात् । सुषुप्ति समये त्वनुसंधीयमानमहमर्थमात्मानं ज्ञातारमहमिति परामृश्य न किञ्चिदवेदिषमिति वेदने तस्य प्रतिषिध्यमाने तस्मिन् काले निषिध्यमानाया वित्तेरसिद्धिरनुवर्तमानस्य ज्ञातुरहमर्थस्य चासिद्धिमनेनैव 'न किञ्चिदहमवेदिषम्' इति परामर्शेन साधयंस्तमिमर्थं देवानामेव साधयतु । 'मामप्यहं न ज्ञातवान्' इति अहमर्थस्यापि तदानीमननुसंधानं प्रतीयत इति चेत्, स्वानुभवस्ववचनयोर्विरोधमपि न जानन्ति भवन्तः । 'अहं मां न ज्ञातवान्' इति ह्यनुभववचने । मामिति किं निषिध्यत इति चेत्, साधु पृष्टं भवता । तदुच्यते अहमर्थस्य ज्ञातुरनुवृत्तेः न स्वरूपं निषिध्यते, अपितु प्रबोधसमयेऽनुसंधीयमानस्याहमर्थस्य वर्णाश्रमादि विशिष्टता । अहं मां न ज्ञातवानि'त्युक्ते विषयो विवेचनीयः । जागरितावस्थानुसंहित जात्यादि विशिष्टोऽस्मदर्थो मामित्यंशस्य विषयः । अत्र सुप्तोऽहमिदृशोऽहमिति च मामपि न ज्ञातवानहमित्येव खल्वनुभवप्रकारः ।

अनु०—यहाँ पर अद्वैती विद्वान् यह नहीं कह सकते कि-जैसे मैं इस समय सुख का अनुभव कर रहा हूँ उसी प्रकार से इस (सुषुप्ति) काल में भी मैं सोया ।' उस प्रत्यवमर्श का स्वरूप है, क्योंकि उक्त ज्ञान का स्वरूप ऐसा नहीं है (क्योंकि उक्त सुखानुभव से सम्बद्ध प्रत्यवमर्श का सम्बन्ध स्वापकालिक अनुभव से है वर्तमानकालिक अनुभव से नहीं ।) न चेत्यादि-यहां पर यह नही कहा जा सकता है किआत्मा अहमथ के अस्थिर होने से सुषिप्तकाल में न रहने के कारण उस काल में वह अहमर्थ अपने सुखित्व का कैस अनुभव कर सकता है ?—क्योंकि सुषुप्ति दशा से पहले अनुभव किये गये वस्तु का सोकर उठा हुआ व्यक्ति इस तरह से परामर्श करता है—मैंने यह किया था, मैंने यह अनुभव किया मैंने यह कहा था, इत्यादि । यदि यहां पर आप यह कहें कि—सोकर जगा हुआ व्यक्ति यह भी अनुभव करता है कि—इतनी देर तक मैंने कुछ भी अनुभव नहीं किया— तो मैं पूछता हूँ कि—इस कथन का क्या अभिप्राय है । यदि आप कहें—इस वाक्य के न किञ्चित् इस पद के द्वारा सुषुप्ति काल में सभी चीजों का अभाव बतलाता है । तो यह कहना उचित नहीं है—क्योंकि इस वाक्य के—नाहमवेदिषम्' इस वाक्यांश के अहम् पद के द्वारा ज्ञाता अहमर्थ की अनुवृत्ति की प्रतीति होती ही है । वह प्रतिषेध ज्ञान के विषयों का ही अभाव बतलाता है । किञ्च—न किञ्चित् [कुछ नहीं] इस निषेध का विषय सम्पूर्ण वस्तुओं को मान लिया जाय तो

[सम्पूर्ण वस्तुओं के अन्तर्गत आने वाली] आपकी अनुभूति भी है जो (सुषुप्तिकालमें भी वर्तमान रूपसे) आपको अभिमत है उसका भी निषेध हो जायेगा। अतएव सुषुप्ति काल में भी अनुभव किये जाने वाले ज्ञाता आत्मा अहमर्थ का इस वाक्य मे 'मैं' इस रूप से परामर्श करके 'मैंने कुछ नहीं जाना' इस तरह से उसके ज्ञान का निषेध किये जाने पर भी सुषुप्तिकाल में हो निषेध्य की जाने वाली ज्ञान की प्रतीति तथा (सुषुप्तिकाल में) अनुवर्तित होने वाले ज्ञाता अहमर्थ की असिद्धि इस— (मैंने कुछ नहीं जाना इस) परामर्श से ही सिद्ध करने वाले तुम्हारे ये वाक्य मौन देवताओं को ही उक्त अर्थ की सिद्धि करें।

मामप्यहमित्यादि—इस पर यदि आप कहें कि 'मैंने अपने को भी नहीं जाना' इस परामर्श से तो सुषुप्ति में अहमर्थ के भी अनुभव का अभाव ज्ञात होता है तो इसके उत्तर में हमें इतना कहना है कि आप अपने अनुभव तथा अपने वचन में होने वाले विरोध को भी नहीं समझ पा रहे हैं। इस पर यदि आप पूछें कि 'मैंने अपने को नहीं जाना' इस अनुभव वाक्य में माम् इस पद के द्वारा किसका निषेध किया जाता है तो यह आपका पूछना उचित है ? मैं उसे बतलाता हूँ— (माम् पद से) ज्ञाता अहमर्थ की अनुवृत्ति के स्वरूप का नहीं निषेध किया जा रहा है बल्कि जगने पर अनुसंधीयमान (जिसका अनुभव किया जारहा है।] अहमर्थ की वर्ण, आश्रम आदि की विशिष्टता का ही निषेध किया जा रहा है। अर्थात्

जगने पर जो हम यह अनुभव करते हैं कि हम ब्राह्मण है। हम क्षत्रिय हैं, हम ब्रह्मचारी हैं, इत्यादि इस ब्राह्मणत्व ब्रह्मचारित्व आदि धर्मों का उस समय अनुसंधान नहीं होता है। माम् पद आत्मा के इन ब्राह्मणत्व आदि से विशिष्ट आत्मा क अनुसंधान का ही निषेध करता है। क्योंकि 'मैंने अपने को नहीं जाना' यह विवेचन सापेक्ष है। जागरितावस्था में अनुभव किये गये जाति आदि से विशिष्ट अस्मदर्थ ही [उपर्युक्त अनुभव के] माम् इस अंश का विषय है। मैं यहाँ सोया हूँ, मैं इस प्रकार से हूँ इस अर्थ को बतलाता है 'अपने को भी नही जाना' इस अंशका यही अनुभव प्रकार है।

टिप्पणी—मयेदं कृतमित्यादि—तीन परामर्श वाक्यों को देने का अभिप्राय कायिक, मानसिक एवं वाचिक इन तीनों प्रकार के व्यापारों के विषयों के परामर्श से है। मयेदं कृतम्—यह वाक्य कायिक व्यापार विषयक परामर्शको बतलाता है मयेदमनुभूतम् यह वाक्य मानसिक व्यापार विषयक परामर्श वाक्य है। और 'अहमेवेदमवोचम्' यह वाक्य वाचिक व्यापार विषयक परामर्श वाक्य है।

मूल- किञ्च सुषुप्तावात्माज्ञानसाक्षित्वेनास्ते— इति हि भवदीया प्रक्रिया। साक्षित्वं च साक्षाज्ज्ञातृत्वं, नह्य जानतः साक्षित्वम्। ज्ञातैव लोकवेदयोः साक्षीति- व्यपदिश्यते, न ज्ञानमात्रम्। स्मरति च भगवान्

पाणिनिः– 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्' (पा० ५/२/९१) इति साक्षाज्ज्ञातर्येव साक्षिशब्दम्। सचायं साक्षी 'जानामिति प्रतीयमानोऽस्मदर्थ एवेति– कुतस्तदानी महमर्थो न प्रतीयेत। आत्मने स्वयमवभासमानोऽहमित्येवावभासत इति— स्वापाद्यवस्थास्वप्यात्मा प्रकाशमानोऽहमित्येवावभासत इति सिद्धम्।

अनुवाद–किञ्च-- आपकी प्रकिया के अनुसार सुषुप्ति काल में आत्मा अज्ञान के साक्षी रूप मे रहता है और साक्षी उसी को कहा जाता है जो किसी चीज का साक्षात् द्रष्टा हो। जो कुछ जानता ही नहीं है वह साक्षी नहीं हो सकता है। [आपकी संविदात्मा भी कुछ नहीं जानती अतएव साक्षी नहीं हो सकती है।] लोक और वेद में जो ज्ञाता होता है, उसे ही साक्षी शब्द से कहा जाता है। भगवान् पाणिनि भी कहते हैं—

साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्—

अर्थात् साक्षात् देखने वाले के अर्थ में सज्ञा अर्थ में साक्षात् शब्द से इनि प्रत्यय होकर साक्षी शब्द बनता है। अतएव साक्षात् जानने वाले के ही अर्थ में साक्षी शब्द का प्रयोग होता है। और वह प्रसिद्ध साक्षी मैं जानता हूँ' इत्यादि अनुभवों में प्रतीति होने वाला अस्मदर्थ ही है। अतएव सुषुप्ति

काल में उसकी (अस्मदर्थ की) प्रतीति क्यो नहीं हो सकती है। अपने लिये स्वयं प्रकाशित होने वाला आत्मा मैं इस रूप से प्रकाशित होता है। इस तरह सिद्ध हुआ कि स्वाप आदि अवस्थाओं में भी प्रकाशित होनेवाला आत्मा 'मैं' 'मै' इस रूप से ही प्रकाशित होता है।

टिप्पणी---**अहमित्येवावभासते इति—**

इस सम्पूर्ण कथनका आशय यह हैकि आत्मा जो सुषुप्ति-काल मे प्रतीत होती है वह 'मैं' 'मैं' इस रूप से ही प्रतीत होती है। उक्त काल में जो अहमर्थका अविशदावभास होता है उसको हम भी इसलिये स्वीकार करते है, कि उक्त काल में अहमर्थ की वाह्याभ्यन्तर धर्मो से विशिष्टता की प्रतीत नही होती है।

किञ्च 'अत्रायं पुरुषः स्वय ज्योति र्भवति' यह श्रुति सुषुप्तिकालिक आत्मा का वर्णन करती है। यहां पर स्पष्ट रूप से श्रुति आत्मा को पुरुष शब्द से अभिहित करती है। और पुरुष शब्द ज्ञानमात्र को ही नहीं वतलाता है, अपितु 'एष द्रष्टा, श्रोता घ्राता रसयिता, मन्ता बोद्धा, कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' अर्थात् यह जो देखता है, सुनता है, सूँघता है जो आस्वाद ग्रहण करता है जो मनन करता जो जानता है जो करता है और जो विज्ञान प्रचुर है वही आत्मा है, इस श्रुति के अनुसार ज्ञाता ही आत्मा है। किञ्च लोक में ज्ञाता के ही अर्थ में पुरुष शब्द

की प्रसिद्धि है। अतएव ज्ञानवान् अहमर्थ ही आत्मा है, जिसकी ही सुषुप्तिकाल में भी प्रतीति होती है।

किञ्च मामप्यहं न ज्ञातवान् इत्यादि परामर्शों का यही स्वारस्य है कि सुषुप्तिकाल में भी ज्ञाता अहमर्थ की ही आत्मा रूप से प्रतीति होती है। दूसरी बात यह है कि अहमर्थ ही प्रत्यक् है, और प्रत्यक् ही आत्मा है यह हम पहले के परिच्छेदों में कह आये हैं। अतएव उस अहमर्थ की ही सुषुप्ति में आत्मा रूप से प्रतीति होती है। यहा पर यह अनुमान भी अभिप्रेत है—सुषुप्तौ आत्मा अहमित्याकारेणैव स्फुरति, अविशदावभासस्य सर्वाभ्युपगतत्वात्, परामर्श स्वारस्यात्, प्रत्यक्त्व सिद्धेश्च।

मुक्तावस्था में भी अहमर्थ रहता ही है।

मूल- यत्तुमोक्ष दशायामहमर्थो नानुवर्तत इति, तदपेशलम्। तथा सत्यात्मनाश एवापवर्गः प्रकारान्तरेण प्रतिज्ञातः स्यात्। न चाहमर्थो धर्ममात्रम्, येन तद्विगमेप्यविद्या निवृत्ताविव स्वरूपमवतिष्ठेत्। प्रत्युत स्वरूपमेवाहमर्थ आत्मनः। ज्ञानं तु तस्य धर्मः। 'अहं जानामि, ज्ञानं मे जातम्' इति चाहमर्थ धर्मतया ज्ञानप्रतीतेरेव।

अनु०—अद्वैती विद्वानों ने यह महा पूर्व पक्ष में कहा है कि अहमर्थ को इसलिए भी आत्मा नहीं माना जा सकता है कि

उसकी सत्ता मुक्तावस्था में नहीं होती है। यदि अहमर्थ ही आत्मा होता तो उसकी सत्ता मुक्तावस्था में भी पायी जाती। अद्वैती विद्वानों के इस कथन का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि यह कहना भी असुन्दर है कि मोक्षावस्था में अहमर्थ की अनुवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि मोक्षावस्था में अहमर्थ की सत्ता नहीं मानने पर दूसरे शब्दों में 'स्वरूप का नाश ही मोक्ष है, इस प्रकार की प्रतिज्ञा होगी। (कहने का आशय यह है कि बौद्ध विद्वान् यह कहते हैं कि– ज्ञान संतान का नाश ही मोक्ष कहलाता है। इस पर अद्वैती विद्वान् यह कहकर बौद्धों का खण्डन करते हैं कि– स्वरूप का नाश पुरुषार्थ नहीं हो सकता है. मोक्ष तो परं पुरुषार्थ है, फिर वह कैसे– स्वरूप का नाश स्वरूप माना जा सकता है। किन्तु जव वे यह कहते हैं कि मोक्षावस्था में अहमर्थ की सत्ता नहीं रह जाती है तो फिर उनका भी यह मोक्ष प्रकारान्तर से बौद्धों के ही मोक्ष लक्षरा से विल्कुल मिलता है। क्योंकि आत्मा का स्वरूप अहमर्थ ही है। यदि मोक्षावस्था में उसका नाश हो गया तो फिर उनके मोक्ष में बौद्धों के मोक्ष से क्या अन्तर पड़ा ? ।) और अहमर्थ आत्मा का धर्ममात्र नहीं है कि उसके नष्ट हो जाने पर भी, जिस तरह अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी आत्मा स्वरूपतः वना रहता है. उसी तरह वह स्वरूपतः वना रहेगा। क्योंकि आत्मा का स्वरूप ही अहमर्थ है, और ज्ञान तो उसका धर्म है। मैं जानता हूँ। मुझको ज्ञान उत्पन्न हुआ। इत्यादि अनुभवों से पत्ता चलता है कि अहमर्थ का धर्म ही ज्ञान है, आत्मा तो अहमर्थ ही है।

मूल- अपि च यः परमार्थतो, भ्रान्त्या वाध्यात्मिकादिदुखं दुःखितया स्वात्मानमनुसंधत्ते, अहं दुःखी'ति सर्वमेतद् दुःखजातमपुनर्भवमपोह्य कथमहमनाकुलः स्वस्थो भवेयमित्युत्पन्नमोक्षरागः सएवतत्साधने प्रवर्तते, स साधनानुष्ठानेन यद्यहमेव न भविष्यामीत्यवगच्छेदप-मर्पदेवासौ मोक्षकथाप्रस्तावात्, ततश्चाधिकारिविरहा देव सर्वं मोक्षशास्त्रमप्रमाणं स्यात् । अहमुपलक्षितं प्रकाशमात्रमपवर्गेऽवतिष्ठत इति चेत्, किमनेन, 'मयि नष्टेऽपि किमपि प्रकाशमात्रमवतिष्ठत' इति मत्वा नहि कश्चिद्बुद्धि पूर्वकारी प्रयतते, अतोहमर्थस्यैव ज्ञातृतया सिध्यतः प्रत्यगात्मत्वम् । स च प्रत्यगात्मा मुक्तावप्यहमित्येव प्रकाशते यथा— तथावभासमान-त्वेनोभयवादि संमतः संसार्यात्मा । यः पुनरहमिति न चकास्ति नासौ स्वस्मै प्रकाशते– यथा घटादिः, स्वस्मै प्रकाशते चायं मुक्तात्मा, तस्मादहमित्येव प्रकाशते । न चाहमिति प्रकाशमानत्वेन तस्याज्ञत्व-संसारित्वादिप्रसङ्गः, मोक्षविरोधादज्ञत्वाद्यहेतुत्वाच्चाहं प्रत्ययस्य । अज्ञानं नाम स्वरूपाज्ञानम्, अन्यथाज्ञानं वा । अहमित्येवात्मनः स्वरूपमिति स्वरूपज्ञान

रूपोऽहं प्रत्ययो नाज्ञत्वमापादयति, कुतः संसारित्वम्, अपितु तद्विरोधित्वान्नाशयत्येव । ब्रह्मात्मभावापरोक्ष निर्धूतनिरवशेषाविद्यानामपि वामदेवादीनामहमित्ये-वात्मानुभव दर्शनाच्च । श्रूयते हि– तद्धैतत् पश्यन्नृ-षिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहंमनुरभवं सूर्यश्चेति, (बृ० १/४/१०) 'अहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च' इत्यादि । सकलेतराज्ञानविरोधिनः सच्छब्द प्रत्ययमात्र भाजः परस्य ब्रह्मणो व्यवहारोप्येवमेव— 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता' (छा० ६/३/२) 'बहु स्यां प्रजायेय' (छा० ६/२/३) स ऐक्षत लोकान्नु सृजा' (ऐ० १/१) इति । तथा यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरा-दपिचोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषो-त्तमः । (गी० १५/१८) अहमात्मा गुडाकेश' (गी० १०/२०) न त्वेवाहं जातु नासम्' (गी० २/१२) 'अहं कृत्स्नस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।' (गी० १०/१८) तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात् ।' (गी० १२/७) 'अहं बीजप्रदः पिता' (गी० १४/४) 'वेदाहं समतीतानि' (गी० ७/२६) इत्यादिषु ।

अनु०—दूसरी बात यह है कि जो (मुमुक्षु व्यक्ति) (हमारे सिद्धान्त के अनुसार) वस्तुतः अथवा (आपके सिद्धान्तानुसार) भ्रान्ति के कारण आध्यात्मिक आदि दुःखों के द्वारा दुःखी होकर 'मैं दुःखी हूँ' इस तरह से अपने को अनुभव करता है, वही व्यक्ति (यह सोचकर कि) किस उपाय के द्वारा इस सम्पूर्ण दुःख समुदाय को सदा के लिये तथा सर्वथा दूर करके 'स्वस्थ्य होऊं' इस प्रकार से जिसको मोक्षाधिगम की इच्छा उत्पन्न हो गयी है वही व्यक्ति मोक्ष के साधनों में प्रवृत्त होता है । वह व्यक्ति यदि यह जान जाय कि इन मोक्ष के साधनों का अनुष्ठान करने से मैं ही नहीं रहूँगा (अर्थात् नष्ट हो जाऊंगा) तो फिर वह मोक्ष सम्बन्धी चर्चा से ही दूर भग जायेगा। ऐसी स्थिति में मोक्षशास्त्र का कोई अधिकारी ही नहीं होगा और अधिकारी के अभाव के कारण ही सम्पूर्ण मोक्षशास्त्र अप्रामाणिक हो जायेगा [इस पर यदि आप कहें कि] मुक्ति में यद्यपि अहमर्थ तो नष्ट हो जाता है फिर भी अहमर्थ उपलक्षित ज्ञानमात्र बचा रहता है, तो मैं पूछता हूँ कि इससे क्या लाभ है ? मुक्तावस्था में मेरे नष्ट हो जाने पर भी मुझसे सम्बद्ध मेरा कोई प्रकाशमात्र बना रहेगा यह जानकर कोई भी बुद्धि पूर्वकारी (सोच विचार कर कार्य करने वाला व्यक्ति) मोक्षधिगम के लिये नहीं प्रयास करता है । अतएव ज्ञाता रूप से प्रतीत होने वाला अहमर्थ ही आत्मा है । और वह प्रत्यगात्मा मुक्तावस्था में भी 'मैं' 'मैं' इस रूप से ही प्रकाशित होता है क्योंकि अहमर्थ ही अपने लिये प्रकाशित होता है ।

और जो-जो अपने लिये प्रकाशित होता है वे सब 'मैं' 'मैं' इस रूप से ही प्रकाशित होता है। जैसा कि हम दोनों को अभिमत संसारी आत्मा मैं इस रूप से ही प्रकाशित होता है। जो मैं इस रूप से नही प्रकाशित होता है वह आत्मा नही होता है जैसे घट आदि। और यह मुक्तात्माअपने लिये ही
प्रकाशित होता है। यहाँ पर आप यह अनुमान नही कर सकते हैं कि जो-जो 'मैं' इस रूप से प्रकाशित होता है, वह अज्ञ एवं संसारी होता है, जैसे 'मैं' इस रूप से प्रकाशित होनेवाला आत्मा। चूंकि विशिष्टाद्वैतियो के सिद्धान्तानुसार मुक्तात्मा भी 'मैं' इस रूप से ही प्रकाशित होता है अतएव वह भी संसारी एवं अज्ञ ही होगा।' क्योंकि ऐसा मानने पर मोक्ष से विरोध होगा तथा 'मैं' इस प्रकार का ज्ञान अज्ञान आदि का हेतु भी नही है। (क्योंकि मोक्षशास्त्र का प्रतिपादन करने वाली—'सर्व हपश्यो पश्यति' इत्यादि श्रुतियां बतलाती हैं कि ब्रह्मदर्शी सर्वज्ञ हो जाता है तथा आविर्भूत गुणाष्टक हो जाता है। संसारी अज्ञता आदि तो कर्मोपाधिक हैं। अतएव इनका कारण अहम् प्रत्यय नहीं हो सकता है। अज्ञान का अर्थ तीन ही हो सकता है। (१) वस्तु के स्वरूपका ज्ञान नहीं होना। (२) अन्यथा ज्ञान—(जो वस्तु जैसी नहीं है उसको वैसा समझ लेना। जैसे उजले शंख को पिलिया रोगसे पीड़ित व्यक्ति पीला समझता है। अन्यथा ज्ञानमें धर्मान्तर का आरोप हो जाता है। धर्म में कोई अन्तर नहीं होता।] [३] विपरीत ज्ञान—किसी वस्तु को दूसरी वस्तु समझ लेना। जैसे

सीपी को रजत समझ लेना। यही कहलाता है विपरीत ज्ञान। स्वरूपाज्ञान राजसी बुद्धि का कार्य होता है, अन्यथा एवं विपरीत ज्ञान तामसी बुद्धि का कार्य है। हां जहां पर तमोगुण की आवरण शक्ति कार्य करती है वहां पर तो अन्यथा ज्ञान होता है और जहां पर उसकी विक्षेप शक्ति कार्य करती है वहां पर विपरीत ज्ञान होता है। गीता में श्रीभगवान् भी कहते हैं–'

अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।
अधर्मं धर्मं मिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिस्सा पार्थ तामसी।

अहं प्रत्यय तो आत्मा का स्वरूप है अतएव वह अज्ञान का कारण कैसे हो सकता है? और कैसे उसके द्वारा मुक्तात्मा में संसारित्व आ सकता है? बल्कि अज्ञान का विरोधी होने के कारण वह अज्ञान को नष्ट ही करता है। किञ्च ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने के कारण जिनकी सारी अविद्या नष्ट हो गयीं है, ऐसे वामदेव आदि महर्षियोंको भी आत्मा का अनुभव 'मैं' 'मैं' इस रूप से ही देखा जाता है–श्रुति बतलाती है कि– 'निश्चय ही इस ब्रह्म का साक्षात्कार करते हुये महर्षि वामदेव ने प्रतिपादन किया कि मैं ही मनु एवं सूर्य हुआ।' 'परमात्म शरीरक मैं ही सृष्टि से पूर्व था, वर्तमानकाल में हूँ और होऊँगा।' इत्यादि (श्रुतियों से स्पष्ट है कि आत्मा का अनु-

संधान 'मैं' इस रूप से ही होता है ।) किञ्च स्वतः सर्वज्ञ एवं सर्ववित् होने के कारण अज्ञान के प्रसंग से रहित तथा स्वाश्रितों के अज्ञान आदि के निरासक सत् शब्द एवं उसके ज्ञान के विषय भूत परंब्रह्म का भी अपनी आत्मा के लिये 'मैं' 'मैं' इस रूप से ही वाग्व्यवहार होता है । 'अरे मैं इन [पृथिवी जल एवं तेज] तीनों देवताओं को' 'मैं अनेक हो जाऊँ' 'उस परमात्मा ने इच्छा किया निश्चय ही मैं लोकों कीं सृष्टि करूँ' (इन सभी श्रुतियों से पता चलता है कि परमात्मा भी अपनी आत्मा का अनुसंधान 'मैं' 'मैं' इस रूप से ही करते है ।] और—चूँकि मैं क्षर जीवों से बढ़कर एवं अक्षर जीवों से उत्तम हूँ अतएव मैं लोक एवं वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ ।' हे अर्जुन ? मैं सम्पूर्ण जगत की आत्मा हूँ । 'निश्चय मैं कभी भी अतीत काल में नहीं था ऐसी बात नहीं है ।' मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का स्थान हूं, मुझसे ही सम्पूर्ण जगत् प्रवृत्त होता है ।' 'उन सभी जीवों का मैं संसार सागर से उद्धार करने वाला हूं । 'मैं सम्पूर्ण जगत् का वीज प्रदान करने वाला पिता हूं ।' 'मैं अतीत कालिक वस्तुओं को जानता हूं ।' इत्यादि स्मृति वाक्यों में भी परमात्मा का आत्मानुसंधान 'मैं' 'मैं' इस रूप से ही देखा जाता है ।

अहमर्थ के आत्मत्व का उपसंहार

मूल- यद्यहमित्येवात्मनः स्वरूपम् कथं तर्ह्यहंकारस्य क्षेत्रा-

न्तर्भावो भगवतैवोपदिश्यते— 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' इति? उच्यते-स्वरूपोपदेशेषु सर्वेष्वहमित्येवोपदेशात् तथैवात्मस्वरूपप्रतिपत्तेश्चाहमित्येव प्रत्यगात्मनः स्वरूपम् । अव्यक्त परिणामभेदस्य हंकारस्य क्षेत्रान्तर्भावो भगवतैवोपदिश्यते । सत्वनात्मनि देहेऽहंभावकरणहेतुत्वेन अहंकार इत्युच्यते । अस्य त्वहंकारशब्दस्य अभूततद्भावेर्थे च्वि प्रत्ययमुत्पाद्य व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या । अयमेव त्वहंकार उत्कृष्टजनावमानहेतुर्गर्वापरनामा शास्त्रेषु बहुशो हेयतया प्रतिपाद्यते । तस्माद् बाधकापेताऽहं बुद्धि स्साक्षादात्म गोचरैव । शरीरगोचरात्वहं बुद्धिरविद्यैव । यथोक्तं भगवता पराशरेण-श्रूयतां चाप्यविद्यायाः स्वरूपं कुलनन्दन । अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या—' इति । यदिज्ञप्ति मात्रमेवात्मा तदात्मन्यात्माभिमाने ज्ञप्तिमात्र प्रतिभासः स्यात् न ज्ञातृत्व प्रतिभासः, तस्माज्ज्ञाताहमर्थ एवात्मा।

तथोक्तम्—

अतः प्रत्यक्ष सिद्धत्वादुक्तन्यायागमान्वयात् । अविद्या योगतश्चात्माज्ञाताहमिति मन्यते । (आ० सि०)

तथा च— देहेन्द्रियमनः प्राणधीभ्योऽन्योनन्यसाधनः ।

नित्योव्यापी प्रतिक्षेत्रमात्माभिन्नः स्वतः सुखी (आ. सि.) इति । अनन्यसाधनः स्वप्रकाशः । व्यापी– अति सूक्ष्मतया सर्वचेतनान्त प्रवेश स्वभावः ।

अनु०– ऊपर के अनुच्छेदों में यह सिद्ध किया गया है कि अहमर्थ ही आत्मा का स्वरूप है । इस पर अद्वैती विद्वान् यह कहते हैं कि यदि आत्मा का स्वरूप 'मैं' इस रूप से प्रतीत होता है तो फिर भगवान् ने स्वयं गीता के तेरहवे अध्याय में अहंकार का क्षेत्र (शरीर तथा उसके उपकरण) के अन्तर्गत उपदेश क्यों किया है । (अहंकारका क्षेत्रके अन्तर्गत उपदेश करते हुए भगवान् ने गीता मे कहा है–) पृथ्वी आदि पाँच महाभूत अहंकार, महत् तत्त्व ये प्रकृति के ही परिणाम है । (यदि अहंकार क्षेत्र के अन्तर्गत है तो फिर उसको आत्मा कैसे माना जा सकता है ? तो इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते है–) चूँकि जहां कहीं भी आत्मा के स्वरूप का उपदेश किया जाता है, वहां पर सर्वत्र 'मैं''मैं' इस रूपसे ही आत्मा का उपदेश किया जाता है, और उसी प्रकार से आत्मा के स्वरूप का भी ज्ञान होता है । अतएव प्रत्यगात्मा का स्वरूप 'मैं' इस रूप से ही है और अव्यक्त प्रकृति का परिणाम कार्य जो अहंकार है उसका उपदेश तो भगवान् ने ही क्षेत्र के अन्तर्गत किया है और वही अहंकार ही आत्म व्यतिरिक्त देह में भी आत्मबुद्धि का कारण बन जाता है । (किन्तु आत्मा के वाचक अहंकार में तथा अहंकार में व्याकरण की व्युत्पत्ति सम्बन्धी भेद है ।) इस अहंकार शब्द की व्युत्पत्ति तो अभूततद्भाव अर्थ में च्वि प्रत्ययान्त जानना चाहिए ।

वही अहंकार बड़े लोगों के अपमान करने का कारण है, इसका दूसरा नाम गर्व भी है। और शास्त्रों में इसको अनेकत्र हेयरूप से बतलाया गया। अतएव बाधक प्रत्यय रहित 'मैं' 'मैं' इस प्रकार से ज्ञान ही साक्षात् आत्मा है। और जो 'मैं' 'मैं' इस प्रकार की शरीर को अपना विषय बनाने वाली बुद्धि है वह तो अविद्या है। जैसा कि भगवान् पराशर ने (श्री विष्णु पुराण में) कहा है– हे मैत्रेय ! अविद्या का स्वरूप सुनो, अनात्मा (शरीर आदि में होने वाली जो) आत्मा की बुद्धि है, (वही अविद्या है) यदि ज्ञानमात्र को ही आत्मा माना जाय तो फिर आत्म व्यतिरिक्त (देह आदि में) आत्मा का अभिमान होने पर शरीर में ज्ञान मात्र की प्रतीति होनी चाहिये। ज्ञातृत्व की नहीं। (अर्थात् मैं ज्ञानमात्र हूँ इस तरह का शरीर में अभिमान होना चाहिये मैं जानने वाला हूँ, इस प्रकार नहीं, किन्तु शरीर में ज्ञातृत्वकी ही प्रतीति होती है) अतएव ज्ञाता (जानने वाला अहमर्थ ही आत्मा है। इसी लिए आत्मसिद्धि में कहा गया है– प्रत्यक्षतः ज्ञान होता है कि (ज्ञान आत्मा का धर्म है तथा आत्मा ज्ञान का धर्मी) तथा उपर्युक्त– (ज्ञाता अहमर्थ स्थिर है तथा ज्ञान अस्थिर, तथा श्रुत्यर्थापतिरूप) न्यायों के संगमन होने के कारण और देहात्माभिमान रूप अज्ञान का भी संयोग ज्ञाता अहमर्थ से ही होने कारण वहीं आत्मा है। (अथवा यदि ज्ञाता अहमर्थ ही आत्मा नहीं होता तो, फिर उसमें देहात्माभिमानदिरूप अज्ञान का संयोग नही होता (यह उपर्युक्त कारिका के तीसरे पादका अर्थ है। और आत्मा को ही लक्षित करते हुए आत्म

सिद्धि में कहा गया है कि– देह इन्द्रियों मन, प्राण, ज्ञान इन सवों से भिन्न नित्य, व्यापक प्रत्येक शरीरों में पृथक्-पृथक् एवं आत्माराम आत्मा है। इस कारिका के अनन्य साधन पद का अर्थ स्वयं प्रकाश है। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण सभी जड पदार्थों के भीतर प्रवेश करने का स्वभाव होने के कारण आत्मा व्यापक है।

टिप्पणी– यद्यहमित्येव– यहां अद्वैती विद्वानों के कहने का आशय यह है कि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में अहमर्थ को ही आत्मा माना जाता है, वह अहमर्थ और अहंकार दोनों एक ही पदार्थ हैं क्योंकि दोनों के वाचक एक ही अहम् शब्द है। और एक शब्द के वाच्य होने के कारण दोनों एक ही पदार्थ हैं। इसीलिए गीतामें श्री भगवान ने "महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च" इस वाक्यसे प्रारम्भ करके कहते हैं 'एतत् क्षेत्रम्'। और यह कहकर उन्होंने यह भी वतलाया है कि 'अहंकार विमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते'। अतएव अहंकार को उन्होंने त्याज्य बतलाया है। यदि अहंकार ही आत्मा होता तो उसको भगवान् त्याज्य कैसे बतलाते।

उच्यते– इत्यादि वाक्य के द्वारा सिद्धान्ती पूर्व पक्षी के उपर्युक्त कथनका खण्डन करते हुए कहते हैं कि–अहम् शब्द के द्वारा अहंकार और आत्मा दोनों का अभिधान होता है। फिर भी दोनों अर्थों के वाचक अहम् शब्द के स्वरूप और व्युत्पत्ति में अन्तर है। वह इस प्रकार से 'अहं शुभमोर्युस्' इस पाणिनीय

सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार एवं पदमञ्जरीकार ने लिखा है— अहम् शब्द दो तरह से बनता है। एक अहम् शब्द अस्मद् शब्द से अह आदेश होकर बनता है। यह दान्त अहम् शब्द आत्मा का वाचक होता है। दूसरा अहम् शब्द मकरान्त अव्यय विभक्ति प्रतिरूपक है। यह मान्त अहम् शब्द अहंकार का वाचक है। ये दोनों को एक सा सुनाई पड़ने पर भी स्वरूपतः भिन्न-भिन्न हैं। दोनों को एक ही अर्थका वाचक मानना व्याकरण शास्त्रके विरुद्ध है। 'दम्भाहंकार संयुता' इत्यादि वाक्यों में अहंकार शब्द का प्रयोग अभिमान का वाचक है।

किञ्च— जिस तरह अहंकार और अहमर्थ का अहम्' यह एक ही शब्द वाचक है। उसी प्रकार महत्तत्त्व और संविद् का एक ही बुद्धि शब्द वाचक है। एक अहम् शब्द वाच्य होने के कारण यदि अहंकार और अहमर्थ में अभिन्नता मानी जाय तो फिर एक ही बुद्धि शब्द वाच्य होने के कारण ही संवित् और महत्तत्व में अभिन्नता क्यों न मानी जाय ? ऐसी स्थिति में संवित् को भी क्षेत्र के अन्तर्गत मानना होगा। फलतः संवित् आत्मा नहीं मानी जा सकती है क्योंकि भगवान् ने बुद्धि को भी क्षेत्र के अन्तर्गत बताया है।

किञ्च—तुष्यतु न्यायसे यह भी आप जानलें कि अहंकार शब्द की सिद्धिदो प्रकार से होती है। एक अहंकार शब्द जो है वह च्वि प्रत्ययान्त अहम् शब्द से बनता है। यह च्वि प्रत्य-यान्त अहम् शब्द बनने वाला अहकार भी दो प्रकार का होता

है। १– करणार्थक कृत्प्रत्यय से बना है। २– भावार्थक कृत्प्रत्यय से बना है। इनमें पहला अहंकार शब्द अहं बुद्धिका वाचक है। दूसरा अहंकार शब्द च्वि प्रत्ययान्त अह शब्द तथा भावार्थक कृत्प्रत्यान्त कृञ् धातु से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है–'न अहम्, अनहम् अनहम् अहं सम्पद्यते अनेन. इत्यहंकार' अर्थात् अनात्मा देहादि में जिसके कारण आत्मत्व का आरोप हो जाता है वह अहंकार तत्त्व है। दूसरे प्रकारका जो अहंकार है वह च्विप्रत्यय रहित अहम् शब्द से निष्पन्न होता है। वही आत्मा का वाचक है। इस तरह तीन प्रकार से अहंकार शब्द निष्पन्न होता है। उस पर ध्यान दिये बिना सभी प्रकार के अहंकार शब्द को अहंकार का वाचक मान लेना अविचारित रमणीय है।

प्रत्यक्ष के दौर्बल्य का खण्डन।

मूल—यदुक्तम्–दोष मूलत्वे नान्यथा सिद्धि संभावनया सकल भेदावलम्बिप्रत्यक्षस्य शास्त्रबाध्यत्वमिति— कोऽयं दोष इति वक्तव्यम्, यन्मूलतया प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिः। अनादिभेदवासनैव हि दोष इति चेत् भेदवासनायास्तिमिरादिवत् यथावस्थित वस्तु विपरीत ज्ञान हेतुत्वं किमन्यत्र ज्ञातपूर्वम्। अनेनैव शास्त्र विरोधेन ज्ञास्यत इति चेत् न, अन्योन्याश्रयणात्

शास्त्रस्य निरस्त निखिल विशेष वस्तु बोधित्वनिश्चये सति भेदवासनाया दोषत्व निश्चयः भेद वासनाया दोषत्व निश्चये सति शास्त्रस्य निरस्त निखिल विशेष वस्तु बोधित्वनिश्चयः इति । किञ्च यदि भेदवासना मूलत्वेन प्रत्यक्षस्य विपरीतार्थत्वम्, शास्त्रमपि तन्मूलत्वेन तथैव स्यात् । अथोच्येत-दोषमूलत्वेऽपि शास्त्रस्य प्रत्यक्षावगतसकलभेद निरसन ज्ञानहेतुत्वेन परत्वात् तत् प्रत्यक्षस्य बाधकमिति तन्न, दोष मूलत्वे ज्ञाते सति परत्वमकिञ्चित् करम् । रज्जु सर्पज्ञाननिमित्तभये सति भ्रान्तोऽयमिति परिज्ञातेन केनचित्—नायं सर्पः, मा भैषीः' इत्युक्तेऽपि भयानिवृत्तिदर्शनात् । शास्त्रस्य च दोषमूलत्वं श्रवणवेलायामेव ज्ञातम् । श्रवणावगत निखिल भेदोपमर्दि ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानाभास रूपत्वान्मननादेः ।

अनु०—(महापूर्वपक्ष में अद्वैती विद्वानो ने कहा है कि प्रपञ्चात्मक भेद की प्रतीति प्रत्यक्ष के द्वारा होती है । और शास्त्र सभी भेदो का खण्डन करता है । अतएव शास्त्र एवं प्रत्यक्ष मे विरोध होता है । ऐसी स्थितिमें बाधक प्रमाणशास्त्र के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध हो जाता है । इसका खण्डन करने के लिये

(सर्वप्रथम सिद्धान्ती अद्वैती विद्वानों के उपर्युक्त कथन का अनुवाद करते हुए कहते हैं—) अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि सभी भेदों पर आश्रित रहने वाले प्रत्यक्ष के दोष मूलक होने के कारण उसमें अन्यथा सिद्धि की संभावना बनी रहने से वह शास्त्र के द्वारा बाधित होजाता है। (यहां पर हम यह पूछना चाहते हैं कि वह) कौन सा दोष है जिसके कारण प्रत्यक्ष को अन्यथा सिद्ध माना जाय। यदि आप यह कहें कि वह दोष अनादि भेद वासना ही है तो, (तो मैं यहां पर यह पूछूंगा कि क्या आपने पहले कहीं यह जान लिया है कि वासना उसी तरह वस्तु याथात्म्य (वस्तु की वास्तविक स्थिति) के विपरीत ज्ञान का कारण है, जिस तरह तिमिर आदि दोष। (तिमिर नामक दोष एक ऐसा दोष है जिसके कारण अकेला ही चाँद दो दिखने लगता है। यह एक प्रकार के आँख का दोष है जिसके कारण आंख की ज्योति दो भागों में विभक्त होकर पृथक् पृथक् किसी विषय का ग्रहण किया करती है। और उसी के कारण एक ही वस्तु दो दिखने लग जाती है।) यदि आप कहें कि इस शास्त्र विरोध के ही द्वारा वह ज्ञात हो जायेगा, तो ऐसा आप नहीं कह सकते हैं। क्योंकि इसमें अन्योन्याश्रय दोष होगा। क्योंकि—शास्त्र सम्पूर्ण विशेषों से रहित ही वस्तु का ज्ञान कराता है, यह निश्चय हो जाने पर ही यह निश्चय सम्भव है कि भेद वासना ही दोष है, और भेद की वासना का दोषत्व निश्चित हो जाने पर ही यह सिद्ध हो सकता है कि शास्त्र अशेष विशेष रहित वस्तु के बोधक हैं। दूसरी बात यह है कि—भेद वासना

जन्य होने के ही कारण प्रत्यक्ष विपरीतार्थक (विपरीत अर्थ का जनक) है तो फिर भेद वासना जन्य ही होने के कारण शास्त्र भी वैसा ही (विपरीत ज्ञान का जनक) ही होगा। इस पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि–यद्यपि शास्त्र भी दोष जन्य ही है फिर भी वह प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात हुये सभी भेदों का नाशक ज्ञान का कारण है, अतएव प्रत्यक्ष की अपेक्षा पर होने के कारण वह प्रत्यक्ष का बाधक है– तो यह नहीं कह सकते हैं। शास्त्र के भी दोषमूलक ज्ञान हो जाने पर परत्व कुछ नही कर सकता। [उससे कोई लाभ नहीं] रस्सी में होने वाले सर्प के ज्ञान होने पर, जिसको हम जानते हैं कि यह भ्रान्त है, इस तरह से ज्ञात व्यक्ति की– यह रस्सी है सर्प नहीं, मत डरो–इत्यादि बात सुनने पर भी भय की निवृत्ति नहीं होती है। और श्रवण की बेला में ही यह ज्ञात हो जाता है कि शास्त्र दोष मूलक है, मनन आदि तो श्रवण के द्वारा ज्ञात सभी भेदों के नाशक ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान रूप हैं, [यह आप भी मानते हैं। ऐसी स्थिति में श्रवण काल में ही जब यह ज्ञात हो गया कि शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान भी मिथ्या ही है, तो फिर वह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान का बाधक कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता है।

मूल- अपि च इदं शास्त्रम्, एतच्चासंभाव्यमानदोषम्, प्रत्यक्षं तु संभाव्यमानदोषम्। इति केनावगतं त्वया ? न तावत् स्वतः सिद्धा निर्धूतनिखिलविशेषानुभूतिरिममर्थं

मवगमयति, तस्याः सर्वं विषय विरक्तत्वात्, शास्त्र पक्षपातरहितत्वाच्च । नाप्यैन्द्रियकं प्रत्यक्षम् दोष-नूलतत्वेन विपरीतार्थत्वात् । तन्मूलत्वादेवनान्यान्यपि प्रमाणानि । अतः स्वपक्ष साधन प्रमाणानभ्युपगमान्न स्वाभिमतार्थसिद्धिः ।

अनुवाद— दूसरी वात यह है कि आपने कैसे जाना कि यह शास्त्र है और इसमें दोष की संभावना नहीं की जा सकती है, और प्रत्यक्ष में तो दोष संभावित है । इस अर्थ को स्वतः सिद्ध सम्पूर्ण विशेपताओं (भेदों) से रहित अनभूति तो नहीं सिद्ध कर सकती है । क्योंकि वह अनुभूति की सभी विषय को अपना विषय नहीं बनाती है । (वह आपके सिद्धान्तानुसार आश्रय एवं विषय से रहित है।) और उसका शास्त्रोंक प्रति कोई पक्षपात नहीं है। इन्द्रियों (तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न) प्रत्यक्ष के द्वारा भी यह वात ज्ञात नहीं हो सकती । क्योंकि वह भी दोष मूलक होने के कारण विपरीत ज्ञान का जनक है । प्रत्यक्ष व्यतिरिक्त अनुमान आदि प्रमाण भी प्रत्यक्ष मूलक ही होने के कारण (इस प्रकार के अर्थ के अवबोधक नही हो सकते हैं ।) अतएव अपने पक्ष को सिद्ध करने वाले प्रमाण को नहीं स्वीकार करने के कारण आपके अभिमत अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है। (इस तरह आप लोगों का यह कथन कि शास्त्र के द्वारा प्रत्यक्ष वाधित हो जाता है, खण्डित हो गया ।)

व्यावहारिक प्रामाण्य का खण्डन

मूल- ननु व्यावहारिक प्रमाण प्रमेय व्यवहारोऽस्माकमप्यस्त्येव, कोऽयं व्यावहारिको नाम ? आपात प्रतीतिसिद्धो युक्तिभिर्निरूपितो, न तथावस्थित इति चेत्, किं तेन प्रयोजनम् प्रमाणतया प्रतिपन्नेऽपि यौक्तिक बाधादेव प्रमाणकार्याभावात् ।

अनुवाद– (यदि अद्वैती विद्वान् यहाँ पर यह कहें कि यद्यपि परमार्थ रूप से हम प्रमाण प्रमेय आदिभावों को नहीं स्वीकार करते है फिर भी) व्यावहारिक प्रमाण प्रमेय भाव को तो हम भी स्वीकार करते ही हैं, तो हम यहां यह पूछते है कि यह व्यावहारिक क्या है । [अर्थात् व्यावहारिक का क्या स्वरूप है ?] इस पर यदि आप (अद्वैती विद्वान्) यह कहें कि, जो आपात [अवातविक] प्रतीत के द्वारा तो ज्ञात होता है किन्तु वस्तुतः वह वैसा नहीं होता है, केवल उसकी सिद्धि युक्तियों के द्वारा ही की जा सकती है, [ऐसी ही वस्तु व्यावहारिक कहलाती है] तो मैं सिद्धान्ती कहता हूँ कि ऐसे व्यावहारिक [प्रमाण प्रमेय भाव के स्वीकार करने से क्या लाभ है ? जबकि] प्रामाणिक रूप से प्रवीत होने पर भी, युक्तियों के द्वारा बाधित होने के कारण उसके द्वारा प्रमाणिक कार्य संभव नहीं है ।

मूल- अथोच्येत– शास्त्रप्रत्यक्षयो द्वयोरप्यविद्यामूलत्वेऽपि प्रत्यक्षविषयस्य शास्त्रेण बाधोदृश्यते, शास्त्रविषयस्य

सदद्वितीय ब्रह्मणः बाधादर्शनेन निर्विशेषानुभूतिमात्रं ब्रह्मैवपरमार्थं इति। तदयुक्तम्— अबाधितस्यापि दोषमूलस्यापारमार्थ्य निश्चयात्। एतदुक्तं भवति— यथा सकलेतरकाचादिदोष रहित पुरुषान्तरागोचर गिरिगुहासु वसतस्तैमिरिकजनस्याज्ञातस्वतिमिरस्य सर्वस्य तिमिरदोष विशेषेण द्विचन्द्रज्ञानमविशिष्टं जायते न तत्र बाधक प्रत्ययोऽस्तीतिन न तन्मिथ्या न भवतीति तद्विषयभूतं चन्द्रद्वित्वमपि (द्विचन्द्रत्वमपि) मिथ्यैव। दोषोऽह्ययथार्थज्ञानहेतुः। तथा ब्रह्मज्ञानमविद्यामूलत्वेन बाधकज्ञानरहितमपि स्वविषयेण ब्रह्मणा सह मिथ्यैव इति। भवन्ति चात्र प्रयोगाः— विवादाध्यासितं ब्रह्म मिथ्या, अविद्यावत उत्पन्न ज्ञान विषयत्वात्, प्रपञ्चवत्। ब्रह्ममिथ्या, ज्ञानविषयत्वात् प्रपञ्चवत्। ब्रह्ममिथ्या, असत्य हेतु जन्यज्ञान विषयत्वात् प्रपञ्चवदेव।

अनु०—इस पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि—यद्यपि शास्त्र और प्रत्यक्ष दोनों अविद्यामूलक है फिर भी जो प्रत्यक्ष के विषय हैं, देखा जाता है कि उनका शास्त्र के द्वारा बाध और शास्त्र का विषय भूत जो ब्रह्म है, वह सन्मात्र है और

अद्वितीय है उसका (प्रत्यक्ष का बाध) हो जाने के) पश्चात (कोई बाधक प्रमाण रह नहीं जाता अतएव ब्रह्मका) बाध नहीं होता है। अतएव सभी विशेषों से रहित ज्ञानमात्र (अनुभूतिमात्र) ब्रह्म ही सत्य है, (और बाधित होने के कारण तद्व्यतिरिक्त सम्पूर्ण प्रपञ्च जो प्रत्यक्षादि के द्वारा प्रतीत होता है मिथ्या है।) तो अद्वैती विद्वानों का यह कथन उचित नही है। क्योंकि यद्यपि शास्त्र जन्य ज्ञान बाधित है, फिर भी दोष मूलक होने के कारण वे भी उसी तरह मिथ्या होंगे (जैसे प्रत्यक्ष) 'एतदुक्तम् भवतीत्यादि' कहने का आशय यह है कि— जिस तरह कोई ऐसा पुरुष जो किसी ऐसी पर्वत की कन्दरा में रहता हो जिसे किसी दूसरे व्यक्ति ने नहीं देखा हो, और उस व्यक्ति को यद्यपि तैमिरिक दोष हो गया हो किन्तु वह अपने तिमिर दोष को नहीं जानता हो, तथा उसे अन्य व्यक्तियों को होने वाले काचादि दोष भी नहीं हुए हों ऐसे भी व्यक्ति को जो तिमिर दोष के कारण द्विचन्द्र ज्ञान की प्रतीति होगी वह भी उसी तरह दोष युक्त होगी जिस तरह अन्य सभी पुरुषों को (होनेवाली द्विचन्द्र ज्ञान की प्रतीति दोष युक्त होती है।) यहां पर यह नही कहा जा सकता है कि किसी बाधक ज्ञानके न होने के कारण उस पुरुष का वह द्विचन्द्र ज्ञान मिथ्या नहीं है, (अपितु वह मिथ्या ही है और) उस ज्ञान का विषय दो चन्द्र की प्रतीति भी मिथ्या ही है। किसी भी ज्ञान के अयथार्थ होने के कारण दोष हैं (अतएव बाधक प्रत्यय हो या नहो यदि कोई ज्ञान दोषमूलक है तो उसे मिथ्या मानना ही होगा)

उसी तरह [दोष युक्त होने के कारण शास्त्र जन्य] अविद्या मूलक होने के कारण ब्रह्मज्ञान, किसी बाधक ज्ञानके नहीं होने पर भी अपने विषय के साथ मिथ्या ही है। यहाँ पर निम्न प्रकार से अनुमान किये जा सकते हैं– [१] विवादास्पद ब्रह्म मिथ्या है, क्योंकि वह अज्ञान युक्त शास्त्रजन्य ज्ञान का विषय बनता है। प्रपञ्च के समान। [२] ब्रह्म मिथ्या है, क्योंकि वह ज्ञान का विषय बनता है, [जो जो ज्ञान का विषय बनता है, वह वह मिथ्या होता है, प्रपञ्च के समान। [३] ब्रह्म मिथ्या है, क्योंकि वह असत्यकारण जन्य ज्ञानका विषय बनता है, प्रपञ्च के समान।

टिप्पणी–द्विचन्द्रज्ञानमविशिष्टं जायते– इस वाक्य का आशय है कि जब किसी कारणवश नेत्र की ज्योतियां भागों में विभक्त हो जाती हैं तो एक ही वस्तु अनेक प्रतीति होने लग जाती है। जैसे अंगुल्यवष्टम्भ के कारण जब दो भागों में नेत्र की ज्योति विभक्त हो जाती है, उस समय दोनों ज्योतियाँ, अपने विषय भूत वस्तु को अलग-अलग ग्रहण कर लेती हैं, अतएव एक ही वस्तु अनेक प्रतीत होने लगती है। तैमिरिक दोष भी ऐसा ही है, जिसके कारण चन्द्र का दर्शन करने वाले तैमिरिक पुरुष की नेत्र ज्योतियाँ दो भागों में विभक्त होकर अलग-२ चन्द्र का ग्रहण कर लेती हैं। अतएव दो चन्द्र प्रतीत होने लगता। किन्तु यह तैमिरिक पुरुष ऐसी गिरिकन्दरा का निवासी है कि उसे कोई जानता है नहीं, और उसे स्वयं इस बात का ज्ञान नहीं है कि मुझे तिमिर दोष हो गया है, अएएव

उसको यह ज्ञान होना ही नहीं कि यह द्विचन्द्र ज्ञान मिथ्या है। इस तरह बाधक प्रत्यय का भी अभाव है। एतावता यह नहीं कहा जा सकता है कि उक्त तैमरिक पुरुष को होनेवाला ज्ञान और उसका विषय मिथ्या नहीं है। इसी तरह शास्त्र भी उसी तरह अज्ञान मूलक है जिस तरह प्रत्यक्ष। क्योंकि दोनों भेदवासना मूलक हैं। अतएव शास्त्रजन्य ज्ञान, उसका विषय भूत ब्रह्म और स्वयं शास्त्र भी उसी तरह मिथ्या हैं, जिस तरह भेद-वासना मूलक प्रपञ्च ज्ञान।

सत्य से ही सत्य की सिद्धि होती है।

मूल- न च वाच्यम् स्वाप्नस्य हस्त्यादिविज्ञानस्यासत्यस्य परमार्थशुभाशुभप्रतिपत्ति हेतुभाववत् अविद्यामूलत्वेनासत्यस्यापि शास्त्रस्य परमार्थभूत ब्रह्मविषय प्रतिपत्ति हेतुभावो न विरुद्ध इति, स्वाप्न ज्ञानस्यासत्यत्वाभावात्। तत्र हि विषयाणामेव मिथ्यात्वम् तेषामेव हि बाधोदृश्यते, न ज्ञानस्य। न हि मया स्वप्नवेलाया मनुभूतं ज्ञानमपि विद्यत इति कस्यचिदपि प्रत्ययो जायते। दर्शनं तु विद्यते अर्था न सन्तीति हि बाधक प्रत्ययः। मायाविनो मन्त्रौषधादिप्रभवं मायामयं ज्ञानं सत्यमेव प्रीतेर्भयस्य च हेतुः, तत्रापि ज्ञानस्याबाधितत्वात्। विषयेन्द्रियादिदोषजन्यं रज्ज्वादौ सर्पादिविज्ञानं

सत्यमेव भयादिहेतुः । सत्यैव अदृष्टेऽपि स्वात्मनि सर्प सन्निधानाद् दृष्टबुद्धिः । सत्यैवशङ्काविषबुद्धिर्मरणहेतु भूता । वस्तुभूत एव जलादौ मुखादि प्रतिभासो वस्तु भूतमुखगतविशेषनिश्चय हेतुः । एषाँ संवेदनानामुत्पत्ति मत्त्वादर्थक्रियाकारित्वाच्च सत्यत्वमवसीयते ।

अनु०–(उपर्युक्त अनुच्छेद में यह अनुमान किया गया है कि ब्रह्म असत्य शास्त्रजन्य ज्ञान का विषय होने के कारण मिथ्या ही है, इस पर अद्वैती विद्वानों का कहना है कि ऐसी बात नहीं है । क्योंकि असत्य से भी सत्य का ज्ञान होता है यह देखा जाता है । जैसे–) स्वप्न दशा में देखे गये असत्य हस्ती आदि का ज्ञान (भावी) सत्य (परमार्थ) शुभ एवं अशुभ का कारण हो जाता हैं, उसी तरह अज्ञान मूलक होने के कारण असत्य शास्त्र का भी परमार्थ ब्रह्मविषयक ज्ञान का जनकत्व कोई विरुद्ध बात नही हे । तो अद्वैती विद्वानों का इस तरह का कथन उचित नहीं प्रतीत होता है । क्योंकि स्वप्न की वेला में दिखने वाले विषय ही मिथ्या हैं, क्योंकि उनका ही बाध देखा जाता है, ज्ञान का नही । किसी को भी ऐसा अनुभव नहीं होता है कि मैंने स्वप्न की वेला में जिन विषयों का अनु-भव किया उनका ज्ञान भी नहीं है । बल्कि वह यही अनुभव करता है कि उनका ज्ञान तो है किन्तु वे स्वप्न में अनुभूत विषय नहीं है, यही अनुभव होता है । और इसी प्रकार का

ज्ञान बाधक प्रत्यय कहलाता है। यही नहीं माया करने वाले व्यक्तियों के मन्त्र और औषध आदि प्रयोग से उत्पन्न माया प्रचुर सत्य ज्ञान हो प्रेम और भय का कारण बन जाता है। क्योंकि उस काल में भी होने वाला ज्ञान बाधित नहीं होता है। विषय (रज्वादि) तथा इन्द्रिय आदि में दोष आ जाने के कारण उनमें उत्पन्न रज्जु आदि में सर्प आदि का सत्य ही ज्ञान भय आदि का कारण बनता है। सर्प को अपने सन्निकट में देखकर उसके द्वारा नहीं काटे जाने पर भी यह अनुभव होते हैं कि सर्प ने मुझे काट लिया है, और इस प्रकार की शंका के कारण अपने में विष की जो बुद्धि हो जाती है वह भी सत्य ही है जो मृत्यु का कारण बन जाती है। जल आदि में मुख इत्यादि की जो प्रतीति होती है जिसके कारण वास्तविक मुख की विशेषताओं का निश्चय होता है, वह भी सत्य है। (इन सभी ज्ञानों को सत्य इसलिए माना जाता है कि) ये सभी ज्ञान उत्पन्न होते है, तथा विभिन्न प्रयोजनों के साधक होने के कारण (सार्थक) होते है। (अत एव यह कहना उचित नही है कि असत्य से भी सत्यज्ञान होता है। अपितु सत्य से ही सत्य का ज्ञान होता है।

मूल- हस्त्यादीनामभावेऽपि कथं तद् बुद्धयः सत्या इति चेत् नैतत्, बुद्धीनां सालम्बनत्वमात्र नियमात् अर्थस्य प्रतिभासमानत्वमेव ह्यालम्बनत्वे अपेक्षितम्। प्रतिभासमानता च अस्त्येव दोषवशात्। सतु बाधितोऽसत्य इत्यवसी-

यते । अबाधिता हि बुद्धिः सत्यैवेत्युक्तम् । रेखयावर्ण प्रतिपत्तावपि नासत्यात् सत्यबुद्धिः, रेखायाः सत्यत्वात् । ननु वर्णात्मना प्रतिपन्ना रेखा वर्णबुद्धि हेतुः वर्णात्मतात्वसत्या । नैवम् वर्णात्मताया असत्याया उपायत्वा योगात् । असतो निरूपाख्यस्य ह्युपायत्वं न दृष्टमनुपपन्नञ्च । अथ तस्याँ वर्णबुद्धेरूपायत्वम, एवं तर्ह्य-सत्यात् सत्यबुद्धिर्न स्यात्, बुद्धेः सत्यत्वादेव । उपायोपेययोरेकत्व प्रसङ्गश्च, उभयोर्वर्ण बुद्धित्वाविशेषात् । रेखाया अविद्यमानवर्णात्मनोपायत्वे च एकस्यामेव रेखायामविद्यमान सर्ववर्णात्मकत्वस्य सुलभत्वादेकरेखा दर्शनात् सर्ववर्ण प्रतिपत्ति स्यात् । अथ पिण्डविशेषे देवदत्तादि संकेतवत् रेखाविशेषो वर्ण विशेष बुद्धि हेतु रिति– हन्त तर्हि सत्यादेव सत्य प्रतिपत्तिः रेखायाः संकेतस्य च सत्यत्वात् । रेखागवयादपि सत्यगवय बुद्धिः सादृश्य निबन्धना सादृश्यञ्च सत्यमेव ।

अनु०—(उपर्युक्त अनुच्छेद में यह बतलाया गया है कि स्वप्न की दशा में भी होने वाला ज्ञान सत्य ही है, अतएव यह नियम है कि 'यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्' । इस तरह विशिष्टाद्वैती विद्वान् सभी ज्ञानों को सत्य मानते हैं।

अद्वैनी विद्वानों का कहना है कि) हाथी आदि [जो स्वप्न में दिखायी देते हैं,) अभाव रहने पर भी उनका ज्ञान कैसे सत्य हो सकता है ? तो इसका उत्तर है कि आप ऐसी शंका नहीं कर सकते हैं। ज्ञान के लिये उनके आधार मात्र के होने का नियम है और ज्ञान का विषय होने के लिये इस बात की आवश्यकता है कि विषय की प्रतीति होती रहे। दोष के कारण स्वप्नकालिक हस्ति आदि की प्रतीति तो होती ही है। (इस पर यदि आप पूछें कि तो फिर उन हस्ती आदि को असत्य क्यों माना जाता है तो इसका उत्तर है कि]— चूंकि हस्ती आदि बाधित हो जाते हैं अतएव उन्हें असत्य माना जाता है, किन्तु उनका ज्ञान अबाधित होने के कारण सत्य ही है। इसी तरह (सीधी तिरछी पड़ी आदि] रेखाओं को देख कर उनमें जो वर्णों की प्रतीति होती है वह भी असत्य से सत्य ज्ञान का उदाहरण नहीं है क्योंकि रेखा तो सत्य ही है। इस पर यदि आप कहें कि वर्ण रूप से प्रतीत होने वाली जो रेखा है वही वर्ण ज्ञान का कारण है, किन्तु उसका वर्णात्मकत्व तो असत्य ही है। तो ऐसी भी बात नहीं है, क्योंकि असत्य वर्णात्मकता [सत्य वर्ण बुद्धि का] कारण नहीं बन सकती है। न तो ऐसा देखा जाता है और न तो यह सिद्ध ही हो सकता है कि असत्य और निरूपाख्य [प्रमिति का जो विषय न बने] वस्तु किसी का साधन बने। इस पर यदि आप कहें कि रेखा की वर्णात्मकता में वर्ण ज्ञान के साधनत्व का ज्ञान होता है तो फिर ऐसा मानने पर असत्य से सत्य का

ज्ञान नहीं सिद्ध हो सकता है । क्योंकि ज्ञान तो सत्य ही है । दूसरी बात यह है कि [ऐसा मानने पर] साध्य और साधन दोनों एक ही हो जायेंगे क्योंकि वर्णात्मकता [साधन] और वर्णज्ञान [साध्य) दोनों वर्णज्ञान स्वरूप ही हैं । और रेखा को अविद्यमान वर्ण का उपाय मान लेने पर तो फिर एक ही रेखा में सभी वर्णों के सुलभ होने के कारण एक ही रेखा देखने से सभी वर्णों का ज्ञान होना चाहिये, (किन्तु ऐसा नही देखा जाता है ।) यदि आप कहें कि जिस तरह किसी शरीर विशेष में देवदत्त आदि संकेत विशेष हुआ करते है, उसी तरह चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ग्राह्य रेखा विशेष मे श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य वर्ण विशेष का सकेत होने का कारण रेखा विशेष ही वर्ण विशेष का ज्ञान के कारण होता है । तब तो फिर सत्य से ही सत्य का ज्ञान होता है, यह मानना होगा । क्योंकि रेखा और संकेत दोनों सत्य है । यही नही रेखागवय नीलगायका चित्र) को देखकर जो सत्य गवय का ज्ञान होता है, वह भी सादृश्य के ही कारण होता है, और (चित्र तथा नील गाय की) समता सत्य ही है ।

टिप्पणी— **अर्थस्य प्रतिभास मानत्वमेव—**

इत्यादि वाक्य का आशय है कि किसी भी प्रकार का ज्ञान होने के लिये उसका विषय होना आवश्यक है । बिना विषय के कोई ज्ञान नही होता है । और विषयके लिये इतना ही अपेक्षित है कि जिसका ज्ञान हो रहा है, उसकी प्रतीतिमात्र

होती रहे। यदि अविद्यमान वस्तु भी विद्यमान की तरह प्रतीत हो तो उसका भी ज्ञान होगा ही।

असतो निरूपाख्यस्य—

इस वाक्य का आशय है कि जो वस्तु असत्य होती है वह निरूपाख्य होती है, और ऐसी वस्तु किसी ज्ञान का कारण नहीं बन सकती है। निरूपाख्य शब्द का अर्थ है कि जो उपाख्या प्रमिति का विषय नहीं बन सके।

मूल- न चैकरूपस्य शब्दस्य नादविशेषेणार्थभेद बुद्धिहेतुत्वेऽप्यसत्यात् सत्यप्रतिपत्तिः। नानानादाभिव्यक्तस्यैव शब्दस्य तत्तन्नादाभिव्यंग्यस्वरूपेणार्थविशेषैस्सह संबन्ध ग्रहण वशादर्थ ग्रहणभेदबुद्धयुत्पत्ति हेतुत्वात् शब्दस्यैक रूपत्वमपि न साधीयः गकारादेबोधकस्यैव श्रोत्रग्राह्यत्वेन शब्दत्वात्। अतोऽसत्यात् शास्त्रात् सत्यब्रह्म विषय प्रतिपत्तिर्दुरूपपादा।

अनु०—अद्वैती विद्वान् यदि यह कहें कि यद्यपि स्फोट रूप शब्द एक है, उसके विभिन्न नाद विशेषों के द्वारा, विभिन्न अर्थों का ज्ञान हुआ करता है, अतएव मानना चाहिये कि असत्य से सत्य का ज्ञान होता है। विभिन्न नादों के द्वारा अभिव्यंग्य [प्रकाश्य] स्वरूप विभिन्न अर्थों के साथ सम्बन्ध होने के कारण, अर्थ भेद की उत्पत्ति का हेतु होने के कारण मानना

चाहिये कि (असत्य से सत्य का ज्ञान होता है ।) तो वे ऐसा भी नहीं कह सकते है, क्योंकि शब्द की एकरूपता मानना ठीक नहीं है. क्योंकि गकार आदि ही श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होनेके कारण शब्द हैं । अतएव यह कहना कि असत्य शास्त्रों के द्वारा सत्य शब्द का ज्ञान होता है, सिद्ध नहीं हो सकता है ।

टिप्पणी- **न चैक रूपस्य शब्दस्य—**

अद्वैती विद्वान् स्फोट रूप शब्द को एक ही मानते है, और यह कहते हैं कि ककार का आदि तो उस शब्द के अभिव्यंजक हैं, अतएव शब्द में आरोपित हैं, और उन्हीं के द्वारा विभिन्न अर्थो का ज्ञान हुआ करता है, जिस तरह असत्य शब्द [कत्व, खत्व] आदि के द्वारा अर्थ विशेष का ज्ञान होता है, उसी तरह असत्य शास्त्र के द्वारा सत्य ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है । इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि शब्द एक ही हो ऐसी वात नहीं है—शब्द श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य रूप होता है । गकार आदि सभी श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण शब्द ही हैं और अनेक हैं । अतएव अनेक सत्य शब्दोंके द्वारा अनेक सत्य अर्थो का ज्ञान होता है यही मानना ठीक है ।

मूल-ननु न शास्त्रस्य गगनकुसुमवदसत्यत्वम्, प्रागद्वैतज्ञानात् सद्बुद्धिबोध्यत्वात्, उत्पन्ने तत्वज्ञाने ह्यसत्यत्वम् शास्त्रस्य । न तदा शास्त्रं निरस्तनिखिल भेदचिन्मात्र ब्रह्मज्ञानोपायः ।

तदाऽस्त्येव शास्त्रम्, अस्तीति बुद्धेः। नैवम्, असति शास्त्रे, अस्तिशास्त्रमिति बुद्धेर्मिथ्यात्वात् ।ततः किम् ? इदं ततः, मिथ्याभूतशास्त्रजन्यज्ञानस्य मिथ्यात्वेन, तद्विषयस्यापि ब्रह्मणोर्मिथ्यात्वम् । यथा धूमबुद्धया गृहीतवाष्पजन्याग्निज्ञानस्व मिथ्यात्वेन तद्विषयस्याग्नेरपि मिथ्यात्वम् । पश्चातनबाधादर्शनञ्चासिद्धम्, शून्यमेव तत्त्वमिति वाक्ये तस्यापि बाधदर्शनात् । तत्तु भ्रान्तिमूलमितिचेत, एतदपि भ्रान्तिमूलमिति त्वयैवोक्तम् । पाश्चात्य बाधादर्शनं तु तस्यैवेत्यलम प्रतिष्ठितकुतर्क परिहसनेन ।

अनु०—इस पर यदि अद्वैती विद्वान् यह कहें कि हम शास्त्र को गगन को पुष्प के समान असत्य नहीं मानते हैं, क्योंकि अद्वैत ज्ञान से पूर्व उसकी सत्ता प्रतीत होती रहती है । शास्त्र में असत्यता तब आती है जबकि तत्त्व ज्ञान उत्पन्न हो जाय। क्योंकि उनके अस्तित्व का ज्ञान तब तक बना रहता है । तो—अद्वैती विद्वान् ऐसा नही कह सकते हैं । शास्त्र के न होने पर भी उसके अस्तित्व का जो ज्ञान होगा वह मिथ्या होगा । यदि आप कहें कि तो इससे क्या हो गया, इसका उत्तर है

कि तो फिर मिथ्याभूत शास्त्र से उत्पन्न ज्ञान के मिथ्या होने के कारण, उसका विषय बनने वाला ब्रह्म भी मिथ्या हो जायेगा। जैसे कहीं पर उठते हुये वाष्प को देखकर उसे धुआँ समझकर वहां पर किया गया अग्नि के ज्ञान के मिथ्या होने के कारण उसका विषयभूत अग्नि जिस तरह मिथ्या होता है [उसी तरह मिथ्या शास्त्र जन्य ज्ञान के मिथ्या होने से उसका विषय भूत ब्रह्म भी मिथ्या ही होगा।] अद्वैती विद्वान् यह जो कहते हैं कि सबके पश्चात् चूंकि ब्रह्म ही बच जाता है अतएव वह मिथ्या नहीं हो सकता क्योंकि उसका बाधक कोई नहीं है तो) पश्चातन बाध के अभाव का नियम नहीं सिद्ध हो सकता है। क्योंकि माध्यमिक बौद्ध शून्य को ही तत्त्व मानते हुये कहता है कि शून्य ही तत्त्व है तो फिर वहाँ तो इसका [ब्रह्म का] भी बाध हो जाता है। यदि आप कहें कि माध्यमिकों का वह प्रतिपादन भ्रान्ति मूलक है, तो फिर यह (शास्त्र तथा तज्जन्नज्ञान) भी भ्रममूलक ही है, यह तो आपने ही कहा है। और सच पूछो तो पश्चात् होने के कारण बाध का अभाव तो शून्य ही है। (क्योंकि शून्य के बाद तो कुछ होता नहीं है। और ब्रह्म के बाद तो शून्य होगा ही।) इस तरह इन प्रतिष्ठा रहित (अदृढ़) कुतर्कों का अधिक परिहास करने से क्या लाभ ?

सद्विद्या सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती है

सू०—यदुक्तम्—वेदान्तवाक्यानि निर्विशेषज्ञानैकरसवस्तु-मात्रप्रतिपादनपराणि, 'सदेव सोम्येदमग्रासीत्' इत्येवमादीनीति। तदयुक्तम्। एकविज्ञानेन सर्व-विज्ञान प्रतिपादन मुखेन सच्छब्द वाच्यस्य परस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं जगन्निमितत्वं सर्वज्ञता सर्वशक्तियोगः सत्यसंकल्पत्वं सर्वान्तरात्मत्वं सर्व-नियमनमित्याद्यनेक कल्याणगुणविशिष्टतां कृत्स्नस्य जगतस्तदात्मकतां च प्रतिपाद्य एव भूतब्रह्मात्म-कस्त्वमसीति श्वेतकेतुं प्रत्युपदेशाय प्रवृत्त त्वात् प्रकरणस्य। प्रपञ्चितश्चायमर्थो वेदार्थसंग्रहे। अत्राप्यारम्भणाधिकरणे निपुणतरमुपपादयिष्यते।

अनुवाद – अद्वैती विद्वानों ने यह जो कहा है कि 'सदेव सोम्यदेमग्रासीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वेदान्तवाक्य निर्विशेष-ज्ञानमात्र ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, तो उनका यह कथन उचित नहीं है। एक विज्ञान के द्वारा सर्व विज्ञान का प्रतिपादन करते हुए सत् शब्द से कहे जाने वाले परंब्रह्म के जगत् के उपादान कारणत्व, जगत् के निमित कारणत्व, सर्वज्ञत्व सर्व-शक्तियुक्तत्व, सत्यसंकल्पत्व सर्वान्तरात्मत्व, सम्पूर्ण जगत् के प्रशासनकर्तृत्व इत्यादि अनेक कल्याणगुणविशिष्टता तथा सम्पूर्णजगत् के आत्मत्व का, प्रतिपादन करके तुम ब्रह्मात्मक हो

इस तरह से ही श्वेतकेतु को उपदेश देने के लिए यह (सद्विद्या नामक) प्रकरण प्रवृत्त है। वेदार्थ संग्रह में इस अर्थ का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है और यहाँ (श्रीभाष्यमें भी आरम्भणाधिकरण में हम इस अर्थ का अच्छी तरह से प्रतिपादन करेंगे।

टिप्पणी—अद्वैती विद्वानों का यह कहना है कि छान्दोग्योपनिषद् में सद्विद्याप्रकरण का उपक्रम सदेव इत्यादि वाक्य से होता है। यह जो वाक्य है इसमें शोधक वाक्य के द्वारा ज्ञान निर्विशेष ज्ञानमात्र ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। इसका उत्तर देते हुए श्री रामानुजाचार्य स्वामीजी महाराज का कहना कि सद्विद्याप्रकरण का आरम्भ सदेव श्रुति से नहीं होकर 'उततमादेशमप्राक्ष्यः' श्रुति से होता है। यहाँ पर असत् कार्यवाद का खण्डन करने के लिए एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा की गयी है—श्रुति का तात्पर्य है—हे सोम रस पानार्ह सच्छिष्य ! क्या तुमने उस आदेश (परमात्म) तत्व को जान लिया जिसके जान लेने से अश्रुत एवं अज्ञात वस्तुएँ श्रुतमत एवं विज्ञात हो जाती हैं।' जैसा कि अद्वैती विद्वान् मानते हैं कि सत्तामात्र ब्रह्म है, तो उस सत्तामात्र ब्रह्म के ज्ञान से सभी वस्तुओं का ज्ञान होना संभव नहीं अतएव उनके मत में एक विज्ञान से सर्व विज्ञान कि प्रतिज्ञा उपपन्न नहीं है। असत कार्यवाद का ही खण्डन करने के लिए श्रुति उदाहरण भी प्रस्तुत करती है—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इस श्रुति में वाचारम्भणपद ·वागालम्बनमात्र का वाचक नहीं है, अपितु वाचापद वाक्शब्द के तृतीया का रूप है। यहाँ पर वाक्

शब्द अजहत् लक्षण के कारण वाक्पूर्वक व्यवहार का वाचक है। "आलम्भः स्पर्शहिंसयोः" धातु से कर्म में ल्युट् प्रत्यय करके आरम्भण पद बना है जो स्पर्श का वाचक है। 'विकारः' पद घटत्वद्रव्यत्व आदि अवस्थाओं का वाचक है। इस तरह इस दृष्टान्त श्रुति का अर्थ हुआ कि वाक पूर्वक व्यवहार्य ही मृत्पिण्ड नामका स्पर्श करता है, अर्थात् नामरूप का भाजन बनता है।

मृतिकेत्येव सत्यम् पद का अर्थ है कि 'मृदयं घटः' इस प्रत्यभिज्ञा के द्वारा मृण्मय जो घट आदि हैं वे भी मृद्द्रव्य होने के ही कारण प्रामाणिक हैं। यदि विकार को असत्य मान लिया जाय तब तो दृष्टान्त ही साध्य विकल हो जायगा। यहाँ पर यदि अद्वैती विद्वान् कहें कि विकार को व्यावहारिक सत्य तो हम भी मानतेहैं, तो ऐसी स्थिति में मृत्पिण्ड भी व्यावहारिक ही सत्य होगा। अतएव कारण के सत्यत्व की सिद्धि सम्भव नहीं है। इसी अर्थ को और स्पष्ट करने के लिये 'सदेव सोम्ये-दमग्रासीदेकमेवाद्वितीयम्' श्रुति प्रवृत्त होती है। इस श्रुति में अग्रे पद सृष्टि के पूर्व काल का वाचक है, सत् शब्द परब्रह्म का वाचक है, एवपद् निश्चयार्थक है, एकम् पद परब्रह्म को सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण बतलाता है; अद्वितीय पद निमि-त्तान्तर का वारक है। और अद्वितीयम् पद परब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण बतलाते हुए 'न तत् समश्चाभ्यधिकश्चदृश्यते' 'न त्वत् समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः' इत्यादि श्रुतियों स्मृतियों के अनुसार परमात्मा के समानाभ्यधिक राहित्य का प्रतिपादन करताहै। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' श्रुति परब्रह्मका सर्वज्ञत्व बतलाती

है 'परास्यशक्ति विविधैवश्रुयते' इत्यादि श्रुतियाँ परमात्मामें सभी शक्तियों का योग बतलाती हैं । 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इत्यादि श्रुतियाँ परंब्रह्म को अवाप्त समस्त काम बतलाती हैं। उत तमादेशम प्राक्ष्यः श्रुति परंब्रह्म को जगत् का प्रशासक बतलाती है ।

आदेश पद पर विचार करते हुए अद्वैती विद्वानों का यह कहना है कि आदेश पद परंब्रह्म के उपदेश विषयत्व का प्रतिपादन करता है । क्योंकि आङ् पूर्वक दिश् धातुमे 'अकर्तरि च-कारके संज्ञायाम्' इस सूत्र से घञ् प्रत्यय होता है । किन्तु यह सूत्र कर्तृव्यतिरिक्त कारक के ही अर्थमें संज्ञाके अर्थमें घञ् प्रत्यय करता है (अतएव आङ्पूर्वक दिशधातु का अर्थ उपदेश एवं घञ् प्रत्यय का अर्थ कर्मत्व है । यदि प्रशासक रूप अर्थ होगा तो फिर कर्ता में घञ् प्रत्यय होता नहीं है । यदि यहाँ पर कर्ता में क प्रत्यय माना जाय तो 'क्ङिति च' सूत्र से गुण का निषेध होने से आदेश शब्द ही नहीं बनेगा। यहाँ पर पचाद्यच् प्रत्यय भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि दिश् धातु के इगुपध् होने से 'इगुपधात् कः' इस अपवाद सूत्रमे क प्रत्यय की प्राप्ति होगी, फिर गुण नहीं होगा अतः घञ् प्रत्ययान्त ही आदेश शब्द को मानना चाहिये । इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि 'आदेश श्रुति परमात्मा के जगन्नियामकत्व को ही बतलाती है। वेदार्थ संग्रह में श्रीरामानुजाचार्य लिखते हैं—

'आदिश्यते अनेन इत्यादेशः आदेशः प्रशासनम् ।'

अर्थात् आङ्पूर्वक दिश् धातु प्रशासन का वाचक है और घञ् प्रत्यय का अर्थ है कर्तृत्व। विशिष्टाद्वैती विद्वान् इस अर्थ की सिद्धि निम्नप्रकार से करते हैं। (१) काशिकावृत्ति की टीका न्यास में लिखा है- 'आङ्पूर्वोदिशतिर्नियोक्तृप्रयोजनवचनः। उपपूर्वस्तु नियोज्य प्रयोजन वचनः। नियोक्तरि प्रयोजनं यस्य-तस्य वचनः वाचक इत्यर्थः। अतएव आदेश पद परंब्रह्मके जगन्नियामकत्व का वाचक है। (२) परंब्रह्म का उपदेश विषयत्व साधारण धर्म है, और जगत्प्रशामकत्व असाधारण धर्म है। परमात्मा के प्रशासन कर्तृत्व की चर्चा शास्त्रोंमें बार-बार की गयी है। 'प्रशासितारं सर्वेषाम्' यह स्मृति बतलातीहै कि परमात्मा सम्पूर्ण जगत् का प्रशासक है। 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्' परमात्मा सबके अन्तःकरण में प्रवेश करके सबों का प्रशासन करता है। 'एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्या चन्द्रमसौ विधृतौ-निष्ठतः' अरे गार्गि! इस परमात्माके ही प्रशासनमें रह कर सूर्य चन्द्रमा नियमित रहते हैं। ये सभी श्रुतियां परमात्मा के निरुपाधिक प्रशास्तृत्व का प्रतिपादन करतीहैं। अतएव ब्रह्म का प्रशास्तृत्व असाधारण धर्म हैं। ब्रह्म का उपदेश विषयत्व असाधारण धर्म नहीं है, क्योंकि इष्टावाप्ति एवं अनिष्ट निवृत्ति के साधनों में वह भी एक है, अतएव अन्य उपदेश्य वस्तुओं के समान होने के कारण वह ब्रह्म का उपदेश विषयत्व साधारण धर्महै। (३)-किञ्च प्रशासतृत्व के द्वारा परंब्रह्म के जगन्निमितत्व की सूचना मिलती है क्योंकि नियमन कर्ता ही निमित्त कारण होता है। 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः' इत्यादि श्रुतिके द्वारा ब्रह्म

को जगत् का उपादान कारण बतलाया ही गयाहै। इसलिए श्रुति यहाँ परंब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण बतला रही है। यदि दूसरा निमित्त कारण हो जाय तो फिर एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा का निर्वाह नहीं हो पायेगा, क्योंकि कारण ज्ञान केद्वारा ही तदनन्यभूत कार्य का ज्ञान संभव है। और परंब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण अद्वैती विद्वान् भी मानते हैं, अतएव प्रकरणानुकूल जगत् प्रशास्तृत्वरूप ही अर्थ को आदेशपद बतलाताहै। (४) घञ् प्रत्यय करण में व्युत्पन्न है अतएव 'विवक्षात: कारकाणि भवन्ति' इस नियमानुसार करण की विवक्षा में कर्ता से घञ् प्रत्यय करके आदेश पद की सिद्धि संभव है। अतएव आदेश पद जगत् प्रशास्तृत्व को बतलाता है। (५) किञ्च-आदेश पद को उपदेश परक मानने पर प्रधान आ + दिश धातु रूप प्रकृति के अस्वारस्य, प्रकरण का अस्वारस्य और गौण घञ् प्रत्यय का स्वारस्य होगा, और आदेश पद को प्रशासन परक मानने पर प्रकृति आ+दिश् धातु एवं प्रकरण का स्वारस्य तथा गौण प्रत्ययार्थ का वैरस्य होगा। अतएव प्रशासन परक ही आदेश पद का अर्थ मानना चाहिये। जैसा कि भगवान् रामानुजाचार्य ने वेदार्थ संग्रह में बतलाया है--

"आदिश्यते अनेन आदेश:, आदेश: प्रशासनम्"